“उत्तर-मध्यकाल:स्त्रीरचनाकार-समय और समाज”

(हैदराबाद विश्वविद्यालय की एम.फिल.(हिन्दी) उपाधि हेतु प्रस्तुत लघु शोध-प्रबंध)

2016

शोधार्थी

सुधांशु कुमार

हिन्दी विभाग

मानविकी संकाय

हैदराबाद विश्वविद्यालय

हैदराबाद - 500 046

“UTTAR-MADHYKAL:STREERACHNAKAR-SAMAY AUR SAMAJ”

A dissertation submitted during Year 2016 to the University of Hyderabad in partial fulfillment of the award of a **M.Phil. Degree** in Department of Hindi, School of Humanities.

By

SUDHANSHU KUMAR

2016

DEPARTMENT OF HINDI, SCHOOL OF HUMANITIES

UNIVERSITY OF HYDERABAD

(P.O.) CENTRAL UNIVERSITY, GACHIBOWLI

HYDERABAD – 500 046

INDIA

DECLARATION

I SUDHANSHU KUMAR hereby declare that this Dissertation entitled **“UTTAR-MADHYKAL:STREERACHNAKAR-SAMAY AUR SAMAJ” (उत्तर-मध्यकाल:स्त्रीरचनाकार-समय और समाज)** submitted by me under the guidance and supervision of **PROF GARIMA SRIVASTAVA** is a bonafide research work which is also free from plagiarism. I also declare that it has not been submitted previously in part or in full to this University or any other University or Institution for the award of any degree or diploma. I hereby agree that my dissertation can be deposited in Shodganga/INFLIBNET.

Date :30/06/2016

Name :SUDHANSHU KUMAR

Signature of the Student :

Regd. No. 15HHHL08

अनुक्रमणिका

- **भूमिका**

प्रथम अध्याय : उत्तरमध्यकाल की सामाजिक और सांस्कृतिक पृष्ठभूमि.....01-27

- राजनीतिक स्थिति.....03-23
- सांस्कृतिक पृष्ठभूमि.....13-27

द्वितीय अध्याय : बीसवीं शताब्दी का प्रारंभिक दौर:स्त्रियों के सामाजिक एवं रचनात्मक उपस्थिति के आयाम.....28-68

- सोपानी सामाजिक व्यवस्था में स्त्री.....31-48
- सोपानी व्यवस्था में रचनात्मक उपस्थिति दर्ज करती स्त्रियाँ.....48-68

तृतीय अध्याय : उत्तरमध्यकालीन प्रमुख स्त्री रचनाकारों की कविताओं का विश्लेषण.....69-148

- निर्गुण धारा : ज्ञानाश्रयी शाखा की संत कवयित्रियाँ.....75-89
- कृष्णकाव्य और स्त्री रचनाकार.....90-113
- रामकाव्य और स्त्री रचनाकार.....113-120
- शृंगार काव्य और स्त्री रचनाकार.....120-138
- आत्मानुभूति परक लेखन.....138-143
- डिंगल काव्य तथा अन्य फुटकल रचनाएँ....143-148

चतुर्थ अध्याय : उत्तरमध्यकालीन स्त्री रचनाकारों की अंतश्चेतना का वैशिष्ट्य.....149-180

- पुरुष रचनाकारों का स्त्रीवादी पाठ.....155-171
- स्त्री रचनाकारों का निजी संसार.....171-180

उपसंहार.....181-183

संदर्भ ग्रंथ सूची.....184-185

भूमिका

हिंदी साहित्येतिहास का उत्तरमध्यकाल प्राय: उपेक्षा का ही भागी रहा है। भारतीय इतिहास के इस कालखण्ड को पतन का युग या अंधकार का युग माना जाता रहा है। कुछ इसी तरह की टिप्पणी कमोबेश उत्तरमध्यकालीन काव्य के संदर्भ में भी की जाती रही है। आलोचकों ने उत्तरमध्यकालीन काव्य को अति-ऐन्द्रिय बताते हुए नीतिभ्रष्ट कहकर तिरस्कृत किया है। प्रगतिशील आलोचक इस समय के काव्य को सामंतवाद की अभिव्यक्ति मानकर प्रतिक्रियावादी काव्य की श्रेणी में रखते हैं। इनके अनुसार इस काव्य में नायक-नायिका भेद, स्त्री-देह सौंदर्य सामंती शासकों की अतिशय कामुकता का प्रतिफलन था जो इस युग को पतन की ओर ले जाता है। पतन की इस विचित्र अवैज्ञानिक व्याख्या ने मुझे इस ओर सोचने-समझने के लिए विवश किया। सबसे पहला सवाल जो मेरे सामने उपस्थित हुआ वो यह था कि जिस दौर में पुरुष रचनाकार स्त्री-देह सौंदर्य पर केन्द्रित होकर कविता लिख रहे थे, उस दौर में स्त्रियाँ क्या लिख पढ़ रही थीं? क्या कोई स्त्री रचनाकार इस दौर में हुई हैं? इन सवालों से मैं अपनी अकादमिक शिक्षा के दौरान जूझता रहा लेकिन विडम्बना देखिए परास्नातक की शिक्षा ग्रहण करने के बाद भी स्त्री-रचनाकारों एवं उनके साहित्य के नाम पर मेरे पास मीरा के कुछ पद एवं दो-चार नारी संतों (अंडाल, बावरी साहिबा, सहजोबाई, दयाबाई आदि) के नाम के अलावा कुछ नहीं था। एम.फिल. में विषय चयन के दौरान मुझे प्रो. गरिमा श्रीवास्तव से यह पता चला कि हिन्दी साहित्य के उत्तरमध्यकाल में कई स्त्री रचनाकार उपस्थित थीं और उन्होंने अपनी विशिष्ट रचनात्मक उपस्थिति भी दर्ज की। मैम ने मुझे डॉ. सावित्री सिन्हा की पुस्तक ‘मध्यकालीन हिन्दी कवयित्रियाँ’ के बारे में बताया और साथ ही सुधा सिंह और जगदीश्वर चतुर्वेदी द्वारा संपादित पुस्तक ‘स्त्री-काव्यधारा’ मुझे पढ़ने के लिए दिया। जिन सवालों से मैं पिछले दो-तीन सालों से जूझ रहा था, उनका जवाब मुझे इन किताबों में मिला। मैंने मन बना लिया कि

मैं अपने एम.फिल. का लघु शोध-प्रबंध इसी विषय पर केन्द्रित होकर लिखूंगा। मैम की मदद से मैंने लघु शोध-प्रबंध का शीर्षक रखा- 'उत्तरमध्यकाल:स्त्रीरचनाकार-समय और समाज'।

प्रस्तुत शोध विषय 'उत्तरमध्यकाल:स्त्रीरचनाकार-समय और समाज' को शोध एवं अध्ययन की सुविधा हेतु मैंने चार अध्यायों में विभाजित किया है। लघु शोध-प्रबंध का प्रारंभ भूमिका से किया गया है। प्रथम अध्याय का शीर्षक 'उत्तरमध्यकाल की सामाजिक और सांस्कृतिक पृष्ठभूमि' है। इस अध्याय के अंतर्गत मैंने उत्तरमध्यकाल (संक्रांति काल) में राजनीतिक, सामाजिक और सांस्कृतिक परिस्थितियों में हो रहे उतार-चढ़ाव को दिखाया है। साथ ही तमाम इतिहासकारों एवं ऐतिहासिक साक्ष्यों के मद्देनजर उत्तरमध्यकाल के संदर्भ में पतन से संबंधित व्याख्याओं पर टिप्पणी करते हुए उस युग को बिना किसी पूर्वाग्रह के संपूर्णता में देखने की कोशिश की है।

द्वितीय अध्याय का शीर्षक 'बीसवीं शताब्दी का प्रारंभिक दौर:स्त्रियों की सामाजिक एवं रचनात्मक उपस्थिति के आयाम' है। मैंने इस अध्याय में भारत की सोपानी सामाजिक व्यवस्था में स्त्रियों की सामाजिक एवं रचनात्मक उपस्थिति को दिखाने की पुरजोर कोशिश की है। इस अध्याय में मैंने राष्ट्रवादी इतिहासकारों द्वारा निर्मित मातृसत्तात्मक समाज के मिथ से टकराने की कोशिश की है। भारतीय मानस की उस सामान्य समझ को झकझोरने की कोशिश की है जिसके तहत यह माना जाता है कि अतीत में स्त्रियों की स्थिति काफी बेहतर थी और बाद में विदेशी आक्रमण के कारण स्त्रियों की स्थिति बदतर होती चली गयी। इस अध्याय में औपनिवेशिक परिदृश्य में स्त्रियों की बदलती चेतना को भी रेखांकित किया गया है।

तृतीय अध्याय का शीर्षक 'उत्तरमध्यकालीन प्रमुख स्त्री रचनाकारों की कविताओं का विश्लेषण' है। मैंने इस अध्याय में लगभग स्त्री रचनाकारों का सामान्य परिचय देते हुए उनकी रचनाओं का विश्लेषण किया है। अध्ययन की सुविधा के लिए इन रचनाकारों को मैंने निर्गुण भक्ति, कृष्ण भक्ति, राम भक्ति, शृंगारपरक, आत्मानुभूतिपरक एवं 'डिंगल काव्य तथा अन्य फुटकल रचनाएं' की श्रेणी में

बांटा है। इस अध्याय में मैंने पचास से ज्यादा स्त्री रचनाकार को रखा है इसलिए यह अध्याय अन्य अध्यायों की अपेक्षा ज्यादा बड़ा हो गया है। मैंने अपने विश्लेषण के दौरान इन्द्रावती को निर्गुण भक्ति के अंतर्गत न रख कर, कृष्ण भक्ति के अंतर्गत रखा है। डॉ. सावित्री सिन्हा जी ने इन्द्रावती को निर्गुण कवयित्री माना है।

अध्याय चार 'उत्तरमध्यकालीन स्त्री रचनाकारों की अंतश्चेतना का वैशिष्ट्य' है। इस अध्याय में मैंने ईश्वरोपासना के स्त्रीकरण की पड़ताल करते हुए यह जानने की कोशिश की है कि कैसे एक काल विशेष में जेंडर एक जैविक तथा सामाजिक धारणा से आगे बढ़कर आध्यात्मिक क्षेत्र में क्रियाशील हो उठता है। इस क्रम में मैंने पुरुष रचनाकारों के 'स्त्री-स्वर' एवं स्त्री रचनाकारों के 'स्त्री-स्वर' को पृथक करने का प्रयास किया है। साथ ही स्त्री रचनाकारों की मनोसामाजिकी को दिखाने का भी विनम्र प्रयास किया गया है।

इस लघु शोध-प्रबंध की मूल मान्यताओं को संक्षेप में 'उपसंहार' में प्रस्तुत किया गया है। संदर्भ सूची के अंतर्गत आधार और सहायक ग्रंथों का उल्लेख किया गया है।

विषय चयन के बाद मैं सामग्री संकलन के लिए अग्रसर हुआ। सबसे पहले अपने विश्वविद्यालय (हैदराबाद केन्द्रीय विश्वविद्यालय) के पुस्तकालय की पुस्तकों एवं पत्र-पत्रिकाओं को उलटा-पलटा, लेकिन इस विषय से सीधे संबंधित लेख नहीं के बराबर मिले। हाँ कुछ लेख अंग्रेजी में जरुर मिले लेकिन...जिस भाषा से बचपन से भागता आया उसका महत्व अब पता चला। खैर, अब पछताए होत का जब चिड़िया चुग गई खेत! छः मास में एम.फिल. के पाठ्यक्रम का अध्ययन समाप्त करके अपने लघु शोध प्रबंध से जुड़ी सामग्री की तलाश में मैं जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय और दिल्ली विश्वविद्यालय के पुस्तकालयों में भी गया। पर अफ़सोस, वहाँ भी निराशा ही हाथ लगी। दिल्ली में ही एक वरिष्ठ ने

बताया कि एक पुस्तक है 'महिला मृदुवाणी' जिसकी एक प्रति चाँदनी चौक के मारवाड़ी पुस्तकालय में है जिसे मैंने देखा है और पढ़ा भी है। साथ ही उन्होंने ये भी बताया कि इसकी दूसरी और अंतिम प्रति बीकानेर के पुस्तकालय में है। मैं आनन-फानन में चाँदनी चौक के मारवाड़ी पुस्तकालय जा पहुँचा लेकिन पता चला ये पुस्तक वहाँ से कब की चोरी हो चुकी थी। बहरहाल मैंने बीकानेर जाने का मन बना ही लिया था कि तभी मैम (प्रो. गरिमा श्रीवास्तव) ने बताया कि ये पुस्तक 'गुरूदयाल सिंह लाइब्रेरी'(चाँदनी चौक) में है। काफी छानबीन के बाद मुझे वो पुस्तक सिर्फ देखने के लिए मिली, पढ़ने के लिए नहीं। दिल्ली के कुछ पुस्तकालयों का अपना कायदा है। पुस्तक को भले ही दीमक खा जाए लेकिन आपको देखने के लिए तभी मिलेगी जब आप या तो दिल्ली के निवासी हों या फिर आपके पास अपने विश्वविद्यालय का कोई आज्ञापित पत्र हो जिसमें यह निर्देश किया गया हो कि शोधार्थी को पुस्तकालय समिति द्वारा पुस्तकालय के अवलोकनार्थ स्वीकृति प्रदान की जाये, मैं उनकी किसी भी शर्त पर खरा नहीं उतर पाया लेकिन काफी मिन्नत-मशक्क़त के बाद उन्होंने मुझे किताब दिखाई। जब तक मैं वो पुस्तक देखता रहा पुस्तकालय के चार कर्मचारी मेरे इर्द-गिर्द बैठकर मुझे ऐसे देखते रहे कि जैसे मैं दीमक हूँ और किताब को बस खाने ही वाला हूँ। बहरहाल जब मैंने पूरी पुस्तक को सरसरी निगाह से देखा तो लगा कि इस पुस्तक के सारे पद तो 'स्त्री-काव्यधारा' में बिना सन्दर्भ के दिए जा चुके हैं। तब मन में एक सवाल उठा कि इसका जिक्र संपादकों ने क्यों नहीं किया। बाद में जब मैंने डॉ. सावित्री सिन्हा की किताब 'मध्यकालीन हिंदी कवयित्रियाँ' को पढ़ा तो उसमें कहीं-कहीं देवी प्रसाद जी की 'महिला-मृदुवाणी' का ज़िक्र मिलता है। डॉ. सावित्री सिन्हा की पूरी पुस्तक को पढ़ने के बाद एक और रोचक तथ्य यह सामने आया कि 'स्त्री-काव्यधारा' के शत-प्रतिशत पद 'मध्यकालीन हिंदी कवयित्रियाँ' से लिए गए हैं। पाँच दशक के बाद भी कोई नया पद नहीं मिला और ना ही कोई रचनाकार। अपने शोध में समयाभाव के कारण इन्हीं रचनाकारों का विश्लेषण प्रस्तुत कर पाया हूँ। प्रस्तुत विषय पर हिन्दी में मुझे कोई ढंग की किताब नहीं मिली। कुछ अंग्रेजी से अनूदित किताबें मिलीं, पर उसमें अनुवाद का अपना अलग ही संकट है। अंग्रेजी में दक्ष न होने

के कारण मुझे काफी दिक्कतों का सामना करना पड़ा। फिर भी मैंने अंग्रेजी की कुछ पुस्तकों को खरीदा। सुसी थारू और के.के. ललिता की पुस्तक 'वुमन राइटिंग इन इंडिया' को कई बार पढ़ने का असफल प्रयास भी किया। मुझे इस पुस्तक से कुछ जरूरी उद्धरण लेने थे जो कठिन था। बाद में मैंने मैम के सामने परेशानी रखी, उन्होंने पुस्तक के कुछ अंशों और कुछ कविताओं का हिन्दी में अनुवाद किया। अंततः ये लघु शोध-प्रबंध आपके सामने उपस्थित है।

हैदराबाद केन्द्रीय विश्वविद्यालय के हिंदी विभाग से एम.फिल. उपाधि हेतु यह लघु शोध-प्रबंध लगभग दस महीनों के अध्ययन एवं शोध के परिणाम के रूप में प्रस्तुत है। लघु शोध-प्रबंध के अनन्तर शोध की विश्लेषणात्मक, विवेचनात्मक, आलोचनात्मक, व्याख्यात्मक एवं समाजशास्त्रीय प्रविधि का प्रयोग किया गया है। कुछ जगहों पर तुलनात्मक प्रविधि का सहारा लिया गया है। लघु शोध-प्रबंध लेखन में मुझे लगभग पाँच महीने का समय मिला। मुझे ऐसा लगता है इस समय सीमा में यथाशक्ति प्रयास करने के बावजूद कई कमियाँ रह गई हैं। भविष्य में इस कमी को दूर करने का प्रयास ही मेरी प्राथमिकता होगी।

प्रस्तुत लघु शोध-प्रबंध प्रो. गरिमा श्रीवास्तव के निर्देशन में संपन्न हुआ। मैम के प्रति मैं विशेष रूप से आभार व्यक्त करता हूँ। तमाम व्यस्तताओं के बावजूद उन्होंने मेरा उचित मार्गदर्शन किया। उनका निरंतर सहयोग और प्रोत्साहन हमारे लिए अतुलनीय महत्व रखता है। प्रो.आर.एस.सर्राजु मेरे सह-निर्देशक थे, मैम की अनुपस्थिति में सर ने अभिभवाकीय दायित्व को संभाला। मैं सर का शुक्रगुजार हूँ। हिन्दी साहित्य से संबंधित उन तमाम अध्यापकों का शुक्रिया अदा करता हूँ जिन्होंने मेरी चेतना के निर्माण में बहुमूल्य योगदान दिया। इसके अलावा अपने अनेक शुभेच्छु मित्रों का आभार व्यक्त करना अपना अनिवार्य कर्तव्य समझता हूँ जिन्होंने ढेर सारी व्यस्तताओं के बावज़ूद अपना अपेक्षित सहयोग प्रदान किया। पितृ-तुल्य भाई हिमांशु और माँ के श्रीचरणों में मेरा प्रणाम जिनके जीवन संघर्षों की बदौलत आज मैं यहाँ तक पहुंच पाया।

उत्तरमध्यकाल की सामाजिक और सांस्कृतिक पृष्ठभूमि

साहित्य और इतिहास में जिस तरह स्त्री और स्त्री संबंधी प्रश्न उपेक्षित हैं, ठीक उसी प्रकार उत्तरमध्यकाल को भी उपेक्षा की नजरों से देखा जाता है। साहित्येतिहास में मध्यकाल का उत्तरार्द्ध दरबारी कविता, श्रृंगार, भोग विलास ईर्ष्या-द्वेष और रसरंग के साहित्य का माना जाता है। उत्तरमध्यकाल से हमारा तात्पर्य है, आधुनिक युग का पूर्ववर्ती काल या फिर पूर्व मध्यकाल के बाद का समय। यह एक युग से निकलकर पूर्णरूप से दूसरे युग में प्रविष्ट हो जाने के बीच का समय है। उत्तरमध्यकाल एक संक्रांति काल है। इस काल में एकसाथ कई स्तरों पर गुणात्मक और ऋणात्मक परिवर्तन हो रहे थे। यह ऋणात्मक परिवर्तन बदलाव सापेक्ष था या यूँ कहें कि बदलते समय के कश्मकश से उपजा था, क्योंकि दुनिया की किसी भी सभ्यता ने बदलाव को कभी सहर्ष स्वीकार नहीं किया। उत्तरमध्यकाल पर बात करते हुए प्रायः यह देखा जाता है कि गुणात्मकता के सामने ऋणात्मकता को इतना गाढ़ा कर दिया जाता है कि संपूर्ण परिदृश्य ही पतनोन्मुख और संकीर्ण होती हुई मनोवृत्ति के इर्द-गिर्द घूमने लगती है। इस तरह सम्पूर्ण उत्तरमध्यकाल के विश्लेषण पर ऋणात्मकता हावी है । उस दौर में ऋणात्मकता पर ज्यादा हाय तौबा मचाना तत्कालीन इतिहासलेखन में विक्टोरियन नैतिकता का प्रभाव था । यह प्रभाव कमोबेश अभी भी बना ही हुआ है ।

उत्तरमध्यकाल को ठीक से समझने के लिए हमें मध्ययुग से आधुनिक युग की यात्रा को प्रभावित करने वाले मुख्य कारक को समझना होगा। हमें समझना होगा कि वह कौन सा मुख्य कारक है, जो संपूर्ण राजनीति, समाज और संस्कृति को प्रभावित कर रहा था। 'मध्यकालीन बोध का स्वरूप' पुस्तक में 'मध्यकाल और उसके आदर्श काव्य' शीर्षक के अंतर्गत बात करते हुए आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी लिखते हैं कि ‘‘इससे पहले के युग (मध्ययुग) में मनुष्य और मनुष्य का संबंध सीधा और प्रत्यक्ष होता था, लेकिन नये युग का संबंध बाजार के माध्यम से होने लगा है। प्रत्येक व्यक्ति सामाजिक, राजनीतिक दृष्टि से स्वतंत्र तो हो रहा है, परन्तु उसकी योग्यता और स्वाधीनता बाजार के मूल्यों द्वारा नियंत्रित होती है। इसके पहले व्यक्ति मालिक होता था या नौकर होता था या दास होता था या मित्र होता था, कवि होता था या

आश्रयदाता होता था, पर आज वह ठीक वैसा नहीं है ।"[1] किसी भी सभ्यता लिए बाजार एक जरूरी इकाई है। बाजार मनुष्य को मुक्त करता है। मुक्ति की यह चेतना पूर्व-मध्यकाल में स्पष्ट रूप से देखने को मिलती है लेकिन भारत का उत्तरमध्यकाल वणिकवादी विचारों के वर्चस्व का काल था। 31 दिसम्बर 1600 में स्थापित ईस्ट इंडिया कंपनी ने 1613 से भारत में औपचारिक रूप से अपना व्यापार शुरु कर दिया। 1613 में व्यापार शुरु करने से पहले ही अंग्रेजों और पुर्तगालियों के बीच सुआली और सूरत के समुद्र तटों पर गंभीर झड़प हो चुकी थी। 1617 में मुगल बादशाह जहांगीर ने अपने दरबार में अंग्रेजों के आवासी दूत के रूप में सर टामस रो का स्वागत किया। यही वह विनम्र प्रारंभ था जिसके बाद कंपनी ने धीरे-धीरे अपने व्यापारिक कार्यकलापों को भारत के दूसरे भागों में फैलाया। बंबई, कलकत्ता और मद्रास सत्रहवीं सदी के अंत तक उसके कार्यकलापों के तीन प्रमुख केन्द्र बन चुके थे। कंपनी का भारत में राजनीतिक प्रसार अठारहवीं सदी के मध्य से आरंभ हुआ ;सौ साल के अंदर लगभग पूरा भारत उसके नियंत्रण में था। ईस्ट इंडिया कंपनी से पहले ही पुर्तगाली, डच और फ्रेंच भारतीय उपमहाद्वीप में दाखिल हो चुके थे। इन सारे व्यापारी देशों ने भारत के राजनैतिक, सामाजिक, सांस्कृतिक और आर्थिक बदलाव की प्रक्रिया को तेज किया, जो बदलाव की प्रक्रिया पूर्वमध्यकाल में शुरु हुई थी, वह प्रक्रिया और भी तेज हुई। ऊपर कहा जा चुका है कि बदलाव की प्रक्रिया उतनी आसान नहीं होती है। बदलाव की प्रक्रिया कई चरणों से होकर गुजरती है। उत्तरमध्यकाल संक्रमण का काल है, जिसे समझने के लिए उसके राजनैतिक, सामाजिक और सांस्कृतिक पहलुओं की पड़ताल करनी होगी। चूंकि साहित्य मानव समाज की भावात्मक स्थिति और गतिशील चेतना की अभिव्यक्ति है, अतः उसके प्रेरक तत्व के रूप में मनुष्य के परिवेश का बहुत महत्त्व है। किसी भी काल के साहित्येतिहास को समझने के लिए उस परिवेश का उचित मूल्यांकन जरूरी हो जाता है और बात जब उत्तरमध्यकालीन साहित्य पर हो रही हो तो यह जरूरत अनिवार्यतः और अधिक बढ़ जाती है। चूँकि इस साहित्य के निर्माण के दो-ढाई सौ वर्षों की दीर्घ अवधि में देश की राजनीतिक, सामाजिक और सांस्कृतिक अवस्था में अनेक उतार-चढ़ाव आये, जिसका प्रभाव

[1] हजारीप्रसाद द्विवेदी, मध्यकालीन बोध का स्वरूप (राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, 2015), पृ.सं. 12

प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से साहित्य, कला और संस्कृति पर पड़ा, क्योंकि हम जानते हैं कि आधार बदलने के साथ अधिरचना में परिवर्तन होता है।

राजनीतिक स्थिति

राजनीति दृष्टि से इस काल को मुगल 'सैनिक राज्य' के पतन का काल माना जाता है। उत्तरमध्यकाल का संपूर्ण राजनैतिक विश्लेषण पतन की दो व्याख्याओं पर आधारित है। पहली व्याख्या 'व्यक्तित्व के संकट' पर आधारित है। इस व्याख्या के अनुसार औरंगजेब के बाद लगभग सभी शासक अयोग्य एवं विलासप्रिय माने जाते हैं। हरम का प्रभाव बढ़ा और किसी विचित्र अवैज्ञानिक कारण की वजह से हमेशा की तरह इस बार भी औरतों को पतन का कारण बताते हुए जोर देकर कहा गया कि राजा और दरबारी अधिक विलासप्रिय हो गए। राजा और दरबारियों की व्यक्तिगत अवनति के संदर्भ में की गई इस व्याख्या पर प्रश्नचिन्ह लगाते हुए 'मोहम्मद अहतर अली' 'मुगल साम्राज्य का अंत' शीर्षक लेख में लिखते हैं कि ''यद्यपि अभी तक किसी ने यह स्थापित नहीं किया है कि सोलहवीं और सत्रहवीं शताब्दियों के मुगल अपने अट्ठारहवीं शताब्दी के उत्तराधिकारियों की तुलना में किसी भी प्रकार कम विलासपूर्ण जीवन व्यतीत करते थे।''[2] यहाँ प्रसंगवश यह कह देना भी उचित होगा कि-'हरम' एक पवित्र शब्द है। यह पूजा-स्थल, परमपावन गर्भ-गृह को इंगित करता है, जहाँ कोई पाप करना हराम था। पूर्व मध्यकाल से उत्तर मध्यकाल की यात्रा के दौरान हरम की शुचिता और पवित्रता और बढ़ी जिसकी विस्तृत व्याख्या इसी अध्याय में आगे की जाएगी। जहाँ तक व्यक्तित्व के संकट, कमजोर बादशाह, अयोग्य कमानदार का सवाल है तो इस सन्दर्भ में 'टी.जी.पी. स्पियर' (1973) जैसे दूसरे इतिहासकरों का कहना है कि अट्ठारहवीं सदी के भारत में योग्य व्यक्तियों की कोई कमी नहीं थी। सचमुच ही उत्तरमध्यकाल सैयद भाइयों, निजामुल मुल्क अब्दुस्समद खाँ, ज़कारिया खाँ, सआदत खाँ, सफ़दर जंग, मुर्शिद कुली खाँ, सवाई जय सिंह जैसे योग्य व्यक्तियों और सैनिकों की गतिविधियों का काल था, लेकिन ये सारे योग्य राजनयिक स्वार्थ-सिद्धि में लिप्त रहे और इन्हें साम्राज्य की चिंता कम रही।

[2] सं. इरफान हबीब, मध्यकालीन इतिहास,अंक-एक (राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, 2012), पृ.सं. 117

दूसरी व्याख्या औरंगजेब की धार्मिक नीति से संबंधित है, जिसके अनुसार हिन्दू जागीरदारों, हिन्दू राजाओं एवं राजपूतों का सोया हुआ राष्ट्रप्रेम जाग गया। धर्म, सम्बन्धित विस्तृत विश्लेषण इसी अध्याय में आगे किया जाएगा, लेकिन औरंगजेब की धार्मिक नीति संबंधी 'एस.आर. शर्मा' का विचार, जो उनकी महत्त्वपूर्ण पुस्तक 'रिलीजियस पॉलिसी' में व्यक्त हुई है, को देखना जरूरी है। डॉ. शर्मा कहते हैं कि "यद्यपि जनसामान्य हिन्दू और सिख-परंपरा औरंगजेब के शासनकाल को व्यापक पैमाने पर धर्मांतरण के लिए उत्तरदायी मानती है, लेकिन महत्त्वपूर्ण बात यह है कि इस बारे में बहुत कम साक्ष्य उपलब्ध हैं। वे आगे लिखते हुए कहते हैं कि -जाहिर है इसने तस्वीर में रंगों को गहरा कर दिया है।''[3] तस्वीर में रंगों को गहरा क्यों किया गया? क्या सांप्रदायिक एका पर चोट करने की यह औपनिवेशिक चाल थी? यह विस्तृत शोध का विषय है। सामान्य तौर पर अभी तक उत्तरमध्यकाल की राजनैतिक स्थिति इन्हीं दो व्याख्याओं के इर्द-गिर्द घूमती फिरती है, लेकिन वर्तमान समय में जब रोज नए-नए शोध हो रहे हैं, रोज नयी-नयी जानकारियों से हम रू-ब-रू हो रहे हैं तब उत्तरमध्यकाल का राजनैतिक और सांस्कृतिक विश्लेषण नए ढंग से किए जाने की आवश्यकता महसूस हो रही है।

इतिहासकारों के अनुसार पूरे मुगलकाल में केन्द्रीय सत्ता और क्षेत्रीय कुलीनों के बीच समझौते और तालमेल की एक प्रक्रिया निरंतर चलती रही है । जैसा कि 'आंद्रे विंक' ने कहा है कि "मुगलों की प्रमुखता 'निरंतर परिवर्तनशील शत्रुताओं और गठजोड़ों की एक संतुलनकारी व्यवस्था पर आधारित थी। मुगल व्यवस्था 'फित्ना' (राजद्रोह) को समायोजित करने के लिए तैयार थी और अपनी सार्वभौम अधिकार क्षेत्र की धारणा में (देशी हो या विदेशी) ऊपर उठ रही स्थानीय शक्तियों को शामिल करने की हमेशा कोशिश करती रही। समझौते और बल प्रयोग के इसी तंत्र के प्रभावी क्रियान्वयन पर उसके अस्तित्व का बना रहना निर्भर था।''[4] मुगल सैनिक राज्य की केंद्रीय शासन-व्यवस्था शासक वर्ग और कुलीन वर्ग के अंतःसंबंध पर निर्भर थी। इसलिए भारतीय कुलीन वर्ग की प्रकृति को बाईपास करके हम उत्तरमध्यकाल के राजनीतिक परिदृश्य को ठीक-ठीक नहीं समझा जा सकता है। अक्सर भारतीय कुलीन

[3] हरबंस मुखिया, भारतीय मुगल, (आकार बुक्स, दिल्ली, 2008), पृ.सं. 52

[4] शेखर बंधोपाध्याय, पलासी से विभाजन तक और उसके बाद आधुनिक भारत का इतिहास (ओरियंट ब्लैकस्वान, हैदराबाद ,2015), पृ.सं. 11

वर्ग को यूरोप के कुलीन वर्ग के समान समझा जाता है। कभी-कभी भारतीय इतिहास तक के संदर्भ में भी 'कुलीन वर्ग' शब्द का प्रयोग उसके यूरोपीय अर्थ में किया जाता है।

मध्यकालीन भारतीय कुलीन वर्ग बुनियादी तौर पर यूरोप के अभिजात्य सामंत वर्ग से भिन्न था। यूरोप में सामंत जमीन का पुश्तैनी मालिक हुआ करता था। उसकी अपनी निजी सेना होती थी, उससे शासक को फौजी मदद देने की उम्मीद की जाती थी। वह अपनी राजनीतिक शक्ति के स्रोत अर्थात् भूमि और निजी सेना को विरासत में दे सकता था। इसलिए उसकी स्थिति सिर्फ राजा के रहमो करम पर निर्भर नहीं होती थी, लेकिन भारतीय कुलीन वर्ग की अपनी जमीन नहीं होती थी। सारा अंतर इसी कारण से पैदा होता है; चूँकि वे जमीन के पुश्तैनी मालिक नहीं होते थे, इसलिए उनकी राजनीतिक स्थिति राजा पर, उनके प्रभाव पर निर्भर होती थी। वह प्रभाव मुख्य रूप से अलग-अलग कुलीनों के सैनिक महत्त्व पर अर्थात् शासक के लिए उनकी सैनिक उपयोगिता पर निर्भर होता था। हर साम्राज्य सेना के नायकों के गठबंधन पर कायम होता था, जिसका मकसद उस सरदार को तख्त पर बिठाना होता था। जब वह सरदार शासक बन जाता था और उसके वंश का शासन स्थापित हो जाता था तो देश के विभिन्न भागों के राजस्व, विभिन्न कुलीनों के हवाले कर दिए जाते थे। कुलीनों के उस विशेष वर्ग की राजनीतिक शक्ति को बनाए रखने के लिए आवश्यक था कि जिस वंश को उन्होंने तख्त दिलाया है, उसकी हुकूमत जारी रहे। साथ ही शासक वर्ग भी नियंत्रण एवं संतुलन की व्यवस्था द्वारा कुलीनों पर नजर भी रखता था।औरंगजेब के शासन के अंतिम वर्षों में मुगलों की संतुलनकारी व्यवस्था बिगड़नी शुरू हो गयी। शक्तिशाली क्षेत्रीय राजनीतिक समूहों का उदय हुआ। शुरूआत में ये राजनैतिक समूह केन्द्रीय सत्ता को राजस्व का भाग नियमित दिया करते थे, लेकिन धीरे-धीरे ये केन्द्रीय सत्ता के नियंत्रण से स्वतंत्र हो गए।

उत्तर मध्यकाल में यह संकट भू-राजस्व के असमान बँटवारे से उपजा था । भू-राजस्व से प्राप्त मुगल साम्राज्य की लगभग अस्सी प्रतिशत आय मनसबदारों के नियंत्रण में थी, पर इस आय का वितरण बहुत ही असमान था। 'सत्रहवीं सदी के मध्य में लगभग 8000 मनसबदारों में से केवल 445 मनसबदार

ही साम्राज्य की 61 प्रतिशत राजस्व आय पर नियंत्रण रखते थे।'[5] इस कारण कुलीनवर्ग के अंदर स्वाभाविक रूप से ईर्ष्या और तनाव पैदा हुए। 'सतीशचंद्र' ने इस आर्थिक स्थिति को अट्ठारहवीं सदी का 'जागीरदारी संकट' कहा। जागीरों का यह संकट कोई नई घटना नहीं थी। यह संकट औरंगजेब के शासन के अंतिम वर्षों में मुख्यतः दकनी युद्धों के कारण और गहराया। बीजापुर (1685) और गोलकुण्डा (1689) के विजय के बाद राजस्व में 23 प्रतिशत की बढ़ोत्तरी हुई, लेकिन अतिरिक्त आय को मनसबदारों में बाँटने के बजाय इन संसाधनों का उपयोग औरंगजेब अपने दकन-अभियान में करना चाहता था। इसलिए नए विजित क्षेत्रों को खालिसा (शाही जमीनों) में शामिल कर लिया गया। औरंगजेब खालिसा के आकार को लगातार बड़ा करता जा रहा था। एक ओर जागीर के रूप में दिया जाने वाला क्षेत्र बढ़ नहीं रहा था, बल्कि घटता जा रहा था वहीं दूसरी ओर मनसबदारों की संख्या में असाधारण वृद्धि जागीरदारी के संकट को और भी विकराल बना रही थी।

सत्रहवीं सदी के अंतिम वर्षों में बाजार में गिरावट देखी जा रही थी। गिरावट की जांच-पड़ताल विस्तार से करते हुए 'मोहम्मद अतहर अली' कहते हैं कि-"पूर्व के विलासोपकरणों और मूल्यवान उत्पादन का एक बड़ा भाग अब तक के 'परंपरागत' बाजारों से हटाकर यूरोप ले जाया जा रहा था। ...ईरान अब विभिन्न भारतीय जिन्सों (नील, काली मिर्च, छींट) का मुख्य बाजार नहीं रहा और भारत व ईरान दोनों अनेक चीनी निर्यातों (रेशम, पोर्सलीन) के बाजार नहीं रहे। 1667 से पहले बंगाली रेशम का एक तिहाई पहले ही डचों और अंग्रेजों द्वारा निर्यात किया जा रहा था और एक तिहाई पारसी व आर्मीनो व्यापारियों द्वारा। केवल एक तिहाई भारतीय मंडियों के लिए बचता था। यूरोप की कंपनियों ने पश्चिमी तट की काली मिर्च पर लगभग एकाधिकार प्राप्त कर लिया और वे मुसलीपट्टम की सबसे महीन भारतीय छींट के मुख्य क्रेता बन गए।"[6] व्यापार में आशातीत वृद्धि का जिक्र 'अकबर से औरंगजेब तक' नामक शोधपरक पुस्तक में किया है । इस विकास ने पूर्वी देशों की आर्थिक स्थिति को गंभीर रूप से प्रभावित किया। ग्रेट सिल्क रोड पर लंबे कारवां चलने बंद हो गए और इसने स्पष्टतः मध्य एशिया को दरिद्र

---

[5] सं. इरफान हबीब, मध्यकालीन इतिहास, अंक-दो (राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, 2012), पृ.सं. 48

[6] सं. इरफान हबीब, मध्यकालीन इतिहास, अंक-एक (राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, 2012), पृ.सं. 119

बनाया। साथ ही इससे भारत व ईरान में विलासोपकरणों का मूल्य बढ़ गया। सामान की कीमतें लगातार बढ़ने लगीं (इन सामानों में विलासिता की वस्तुएं प्रमुख थीं)। शासक वर्ग और कुलीन वर्ग की कठिनाई इस कारण और बढ़ गई, क्योंकि अंततः शासक वर्ग और कुलीन वर्ग के सदस्यों के लिए जीवन के पर्याय अर्थ विलास ही था साथ ही बढ़ती महंगाई ने आम जनजीवन को अवश्य ही संकटापन्न बना दिया था। जागीरदारी संकट और बाजार में आई गिरावट ने राजनीतिक स्थिति को काफी प्रभावित किया। अब चूंकि बहुत अधिक मनसबदार बहुत थोड़ी-सी जागीरों के लिए प्रतिस्पर्धा कर रहे थे, इसलिए बहुतों को वर्षों तक बिना जागीर के रहना पड़ता। फिर जब उन्हें जागीर मिलती भी थी तो इस बात की कोई गारंटी नहीं थी कि थोड़े ही समय में उनका हस्तांतरण नहीं होगा। इसलिए पूरा कुलीन वर्ग निजी असुरक्षा की एक गहरी भावना से ग्रस्त था। इसलिए कुलीनों की निष्ठा में कमी आई। “उन दिनों शाही दरबार में जोड़-तोड़ अपनी चरम सीमा पर था। मुगल कुलीनवर्ग तीन परस्पर विरोधी गुटों में विभक्त था। असद खाँ और उसके बेटे ज़ुल्फिकार खाँ के नेतृत्व वाला ईरानी गुट (शिया मुसलमान); गाजीउद्दीन खाँ, फ़ीरोज जंग और उसके बेटे चिन कुलिच खाँ (निज़ामुल मुल्क) के नेतृत्व वाला तूरानी गुट (सुन्नी मुसलमान), और सैयद भाइयों, खाने दौरा, कुछ अफगान नेताओं और कुछ हिंदुओं के नेतृत्व वाला हिंदुस्तानी गुट। ये गुट जाति या धर्म पर आधारित न होकर पारिवारिक संबंधों, निजी मित्रता और सबसे बढ़कर साझे स्वार्थों पर अधिक आधारित थे। कभी-कभी आपसी शत्रुता और जलन को धार्मिक रंग भी दिया जाता था। गुटों की यह लड़ाई न कभी शाही दरबारों से बाहर गई, न हिंसक टकरावों में बदली। तैमूर के शासकों के शासन करने के दैवी अधिकार को किसी ने चुनौती नहीं दी, लेकिन संरक्षण के वितरण को नियंत्रित करने के लिए हर गुट बादशाहों को अपने प्रभाव में लेने का प्रयास करता रहा ।”[7] सत्ता के केन्द्र से किसी विशेष गुट की निकटता स्वाभाविक रूप से दूसरे गुटों को उससे विमुख करती थी और इस कारण शासक वर्ग और उसके कुलीन वर्ग के वफादारी वाले निजी संबंध धीरे-धीरे प्रभावित हुए, क्योंकि असन्तुष्ट गुटों को साम्राज्य के हितों का ध्यान रखने का कोई कारण दिखाई नहीं देता था। इससे देश में भ्रष्टाचार फैला। अब कोई मनसबदार अपेक्षित संख्या में सिपाही और घोड़े नहीं रख रहा था और न ही इसकी प्रशासनिक

[7] शेखर बंधोपाध्याय, पलासी से विभाजन तक और उसके बाद आधुनिक भारत का इतिहास (ओरियंट ब्लैकस्वान, हैदराबाद ,2015), पृ.सं. 05

निगरानी की कोई कारगर व्यवस्था थी। सेना का इस तरह कमजोर पड़ना साम्राज्य के लिए धातक था, क्योंकि साम्राज्य का स्थायित्व अंततः उसके सैन्यबल पर ही निर्भर था। मराठों के नेता शिवाजी ने सफलतापूर्वक दिखा दिया कि अब मुगलों की सेना अजेय नहीं थी। अब कुलीन अपने लिए स्वतंत्र या अर्द्ध-स्वतंत्र रजवाड़े खड़े करने में अधिक दिलचस्पी लेने लगे, जिसके कारण साम्राज्य एक तरह से विखंडित होकर रह गया।

सत्रहवीं सदी के आखिर में 'बाजार' में आई गिरावट के कारण किसानों का शोषण बढ़ा। सत्रहवीं सदी के अंतिम तथा अठारहवीं सदी के प्रारंभिक वर्षों में बार-बार होने वाले किसान विद्रोहों को भी मुगल साम्राज्य के पतन का एक प्रमुख कारण माना जाता है। ऊपर से आरोपित एक साम्राज्य को और उस पर धीरे-धीरे बढ़ रहे आर्थिक दबावों को संभवतः ग्रामीण समाज ने कभी पूरी तरह स्वीकार नहीं किया था और एक केंद्रीय सत्ता के विरुद्ध क्षेत्रीय भावनाएं तो थीं ही। अट्ठारहवीं सदी में जब केन्द्रीय सत्ता की कमजोरियाँ स्पष्ट हो गई और मुगल सेना को बार-बार मात खानी पड़ी, तब शाही सत्ता के खिलाफ प्रतिरोध दृढ़संकल्प के साथ व्यापक बना। अधिकांश मामलों में इन विद्रोहों का नेतृत्व असंतुष्ट स्थानीय जमींदारों ने किया और दमन से पीड़ित किसानें ने उनका पूरा-पूरा साथ दिया। छोटे जमींदारों और किसानों के बीच जाति, वंश और धर्म पर आधारित गहरे सामुदायिक संबंध होते थे। यह अंतर्संबंध जमींदारों की शक्ति का महत्त्वपूर्ण स्रोत था; उनमें से अनेक तो छोटी-छोटी सेनाओं और किलों के स्वामी थे। इसलिए उनके सक्रिय सहयोग के बिना अंदरूनी इलाकों में मुगल प्रशासन चल नहीं सकता था। अकबर ने इन जमींदारों को सहयोगी बनाने की कोशिश की थी, लेकिन औरंगजेब के अंतिम वर्षों से ही और विशेषकर उसकी मृत्यु के बाद (1707-08 में उत्तराधिकार युद्ध के बाद) उत्पीड़ित जमींदार की स्वामीभक्ति डगमगाने लगी। जागीरदारों का बढ़ता दमन स्थानीय जमींदारीं की खुली अवज्ञा का एक प्रमुख कारण था। चूंकि मुगल व्यवस्था में राजनैतिक नियंत्रण के लिए जागीरदारों का स्थानांतरण कर दिया जाता था, इस कारण जागीर से उनका दीर्घावधि का कोई लगाव या उसमें दीर्घकालिक रुचि नहीं होती थी।

'इरफान हबीब' ने लिखा है कि "जागीरों का हस्तांतरण तथा सभी स्थानीय संबंधों से जागीरदारों के पूर्ण रूप से अलगाव की स्थिति ने कृषक वर्ग के अत्यधिक शोषण तथा जमींदारों पर बढ़ते हुए अत्यधिक दबाव को प्रोत्साहित किया। अंततोगत्वा, यह स्थिति कृषक विद्रोह (जैसे जाटों, सिखों और सतनामियों का विद्रोह) की ओर ले गई, जिसका नेतृत्व किसी-न-किसी चरण में जमींदारों ने अपने हाथ में ले लिया; या स्वयं जमींदारों (जैसे मराठों) के विप्लवों में किसानों का इस्तेमाल गोला-बारूद की तरह किया गया।''[8] किसानों के विद्रोह ने कमजोर पड़ रही केन्द्रीय सत्ता को पतन की ओर धकेला तो वहीं छोटे-छोटे जमींदारों की राजनैतिक स्थिति मजबूत की। ये छोटे जमींदार किसानों से अपने सामुदायिक संबंधों के कारण, किसानों को लामबंद किया, उत्तर भारत में जाटों ने भरतपुर का जाट रजवाड़ा स्थापित किया; पंजाब में सिखों ने अपनी स्थिति मजबूत की और राजस्थान में राजपूत सरदारों ने अपनी वफादारी वापस ले ली। इन सभी विद्रोहों के कारण साम्राज्य के विभिन्न भागों में स्वतंत्र रजवाड़े स्थापित हुए, इससे केन्द्रीय सत्ता और भी कमजोर हुई।

"पतनशील केन्द्रीय सत्ता की आर्थिक व्याख्या हम एक हद तक ही कर सकते हैं, क्योंकि 'मुगल साम्राज्य के पूरे इतिहास में पतन और संकट से अधिक समृद्धि और संवृद्धि के साक्ष्य मिलते हैं। इस बात को अस्वीकार करना संभव नहीं कि अट्ठारहवीं सदी तक भी अतिरिक्त संसाधन वाले क्षेत्र मौजूद थे, जैसे मुरादाबाद, बरेली, अवध और बनारस, लेकिन मुगल सत्ता स्थानीय जमींदारों के हाथों इस अधिशेष और संसाधनों का अधिग्रहण नहीं कर सकी।"[9]

समृद्ध अधिशेष और संसाधनों वाला बड़ा क्षेत्र बंगाल ने अंग्रेज व्यापारी, जगत सेठ के बैंकिंग घरानें एवं जमींदारों से सांठ-गांठ कर केन्द्रीय सत्ता से अपनी निष्ठा तोड़ ली और अपना स्वतंत्र राज्य स्थापित किया। (लेकिन फिर भी कई वर्षों तक केन्द्रीय सत्ता को नियमित राजस्व भेजते रहे)। वहीं हैदराबाद ने भी हिंदू जमींदारों एवं फ्रांसीसियों से समर्थन पाकर स्वतंत्र राज्य स्थापित कर लिया। अवध भी केन्द्रीय सत्ता से अलग हो गया। इन नए नवाबों ने साम्राज्य के संसाधनों पर अपना एकाधिकार

[8] सं. इरफान हबीब, मध्यकालीन इतिहास, अंक-दो (राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, 2012), पृ.सं. 55

[9] शेखर बंधोपाध्याय, पलासी से विभाजन तक और उसके बाद आधुनिक भारत का इतिहास (ओरियंट ब्लैकस्वान, हैदराबाद ,2015), पृ.सं. 10

स्थापित कर लिया। जैसा कि ‘मुजफ्फर आलम’ ने इस स्थिति का सार प्रस्तुत किया-“विकेन्द्रीकरण और व्यवसायीकरण के कारण इन्हीं दिनों 'नए नवाबों' के एक दल ने साम्राज्य के संसाधनों पर इस तरह अपना एकाधिकार कर लिया कि वंशानुगत मुगल कुलीन अर्थात् शाहजादे उनसे वंचित हो गए...इस तरह निर्धनता और संकट के बजाय 'सुसंगत आर्थिक संवृद्धि और समृद्धि ही स्थानीय राजनीतिक उथल-पुथल का कारण था।”[10] मुगल साम्राज्य में शक्तिशाली क्षेत्रीय राजनीतिक समूहों के उत्थान की संभावना सदैव थी। अट्ठारहवीं सदी के महत्त्वपूर्ण आर्थिक और राजनैतिक परिवर्तनों ने उस संभावना को और भी स्पष्टता के साथ उजागर किया। “भारतीय इतिहास की अट्ठारहवीं सदी को समझने के लिए 'पतन' की अवधारणा संभवतः एक अपर्याप्त विचार है। भारतीय इतिहास में अट्ठारहवीं सदी कोई अंधकार का युग नहीं है, न ही कुल मिलाकर पतन का युग है। एक अखिल भारतीय साम्राज्य के पतन के बाद एक अन्य का उदय हुआ और बीच के काल में अनेक प्रकार के शक्तिशाली क्षेत्रीय राज्यों का वर्चस्व रहा।’’[11] अट्ठारहवीं सदी में इन राज्यों का उदय राज्यव्यवस्था के पतन की बजाय उसका रूपांतरण था। यह शक्ति के विकेन्द्रीकरण का सूचक था, न कि शक्ति के शून्य या राजनीतिक अव्यवस्था का।

शक्ति के इस विकेन्द्रीकरण ने अवध, बंगाल और हैदराबाद के अलावा मराठों, सिखों जाटों तथा फर्रूखाबाद और रूहेलखंड के अफगान रजवाड़ों के साथ-साथ कई छोटे-बड़े स्थानीय जमींदारों को राजनैतिक हैसियत प्रदान की। व्यावसायिक और राजनैतिक उथल-पुथल के इसी दौर में जगत सेठ के बैंकिंग घराने का उदय हुआ। हिन्दू, मुसलमान और आर्मेनियाई-व्यापारियों का वर्चस्व बढ़ा। ये बैंकिंग घराने सत्ता को प्रभावित करते थे। व्यापारिक अर्थव्यवस्था का प्रसार हुआ तथा इजारादारों और धनशक्ति से सम्पन्न व्यापारियों ने अपने राजनीतिक प्रभाव को बढ़ाया। देसी बैंकर बड़ी-बड़ी रकमों का लेन-देन कर रहे थे और हुंडियों के जरिये साख (क्रेडिट) के हस्तांतरण के लिए देशभर में लंबे-चौड़े वित्तीय तंत्र चला रहे थे। ज्यादातर मौके पर वे केन्द्रीय सत्ता की बजाय क्षेत्रीय कुलीनों का पक्ष लिया करते थे। ऐसा

[10] शेखर बंधोपाध्याय, पलासी से विभाजन तक और उसके बाद आधुनिक भारत का इतिहास (ओरियंट ब्लैकस्वान, हैदराबाद ,2015), पृ.सं. 11

[11] शेखर बंधोपाध्याय, पलासी से विभाजन तक और उसके बाद आधुनिक भारत का इतिहास (ओरियंट ब्लैकस्वान, हैदराबाद ,2015), पृ.सं. 12

लगता है कि उत्तरमध्यकाल की संपूर्ण राजनीति पर कमोबेश बाजार का पूर्ण नियंत्रण था। कहा जा सकता है कि उत्तरमध्यकालीन बाजार में मुक्ति की बजाय वणिकवादी वर्चस्व का आधिक्य था।

अब हम उत्तरमध्यकाल की राजनीति में आधी आबादी की भूमिका पर आते हैं। उत्तरमध्यकाल में आधी आबादी की भूमिका तथा समाज, साहित्य, संस्कृति आदि विभिन्न क्षेत्रों में स्त्रियों के योगदान का विश्लेषण करना आगामी अध्यायों का उद्देश्य है। प्रस्तुत अध्याय में कुलीन और गैरकुलीन स्त्रियों की तत्कालीन राजनीतिक, सामाजिक, सांस्कृतिक भूमिका का विश्लेष्ण करने का प्रयास करेंगें । इस संक्रमण काल में स्त्रियों ने भी राजनीति में हस्तक्षेप किया। शाहजहाँ के समय जहाँआरा के राजनैतिक प्रभाव को कम करके नहीं आंका जाना चाहिए। उत्तराधिकार के युद्ध में दाराशिकोह ने जहाँआरा से मदद मांगी थी। औरंगजेब के बाद जब केन्द्रीय सत्ता ही कमजोर हो गई तो राजनैतिक हिस्सेदारी या प्रभाव को ढूंढना बड़ा मुश्किल काम होगा, लेकिन सत्ता के विकेन्द्रीकरण के बाद हम जब क्षेत्रीय राजनीति की ओर रूख करते हैं तो पाते हैं कि अलीवर्दी खाँ की मृत्यु के बाद घसेटी बेगम ने राजनीति को प्रभावित किया। 1699 में राजाराम की मृत्यु के बाद उसकी रानियों में एक ताराबाई ने क्षेत्रीय राजनीति को खूब प्रभावित किया। 1707 में जब मुगल जेल से शिवाजी का पोता साहू जी रिहा हुआ तब ताराबाई को असली संकट का सामना करना पड़ा। अगले आठ वर्षों तक महाराष्ट्र साहू और ताराबाई के बीच व्यापक गृहयुद्ध में फंसा रहा। अंत में तमाम तरह की उठापटक के बाद 1731 में 'वारना की संधि' के द्वारा कोल्हापुर राज्य ताराबाई को दिया गया। इंदौर में 'अहिल्याबाई होल्कर' का समय भी इसी उत्तरमध्यकाल के अंतर्गत आता है। उपरोक्त वर्णनों से इतना पता चलता है कि ये स्त्रियाँ राजनीति को प्रभावित करती थी। कभी-कभी किस गुट विशेष का संचालन भी करती थीं और कभी-कभी तो ये कठपुतली होती थीं डोर किसी और के हाथ में होती थी। समय आने पर वे शासन-प्रशासन को भी संभालती थीं, लेकिन ओरछा की 'महारानी देवकुंवरि' और 'वीरांगना जैतकुंवरि' ने सिर्फ गुट की राजनीति को प्रभावित नहीं किया वरन् साहित्यिक स्त्रोतों एवं दस्तावेजों से हमें यह पता चलता है कि ये वक्त आने पर युद्ध के मैदान में भी पुरुषों का साथ देती थीं। रानी देव कुंवरि महराजा छत्रसाल की महारानी थी। कहा जाता है कि रानी देवकुंवरि महराजा के साथ युद्ध के मैदान में जाती थी।(छत्रसाल ने 252 छोटे-बड़े युद्ध लड़े)

''तब देवकुंवरि अर्द्धांगिनी वा, छत्रसाल शक्ति परिपूर्ण बने
यम को भी रण में नहि गिनते। अरि आएं चाहे घने-घने।
अरि आगे छत्रसाल लड़ते। पीछे से महिला सेना ले
आती थी देवकुंवरि रानी, अरि काट पीट कर लेना ले।।

(वीरभक्त वकप्त छत्रसाल पृ.147)''[12]

वीरांगना जैतकुंवरि महराजा छत्रसाल की पुत्रवधु और कुँवर जगतराज की धर्मपत्नी थी। वह भी अपने पति कुँवर जगतराज के साथ युद्ध के मैदानों में भी जाती थीं। वि.सं. 1783 की बात है। मुहम्मद खाँ बंगश ने जगतराज को बंदी बना लिया, तब वीरांगना जैतकुंवरि ने वीरता का प्रदर्शन करते हुए शत्रु के शिविर से पति को सकुशल छुड़ाया था, जिसकी पुष्टि महराजा छत्रसाल द्वारा पुरस्कार स्वरूप में दी गयी दो परगनों की सनद करती है-

"बंगस जैतपुर में लड़वे को आयो, दिमान जगतराज से लड़ाई भई, जगतराज के घाव आए, फौज मारी गयी, कुछ भाग गयी। पै तुमने सुनी सो तुम खुद जुध्य करिबे को निकरी, फौज जुर आई, फतै करी, फिर पैसवा को बुलवावो उनके पूरो जुध्य करो। बंगस हार गयो, हम तुम्हारे ऊपर खुशी हैं, जो तुम निकर कै ना लड़ती हो, बंगस करिया मुंह करि कै जात हतौ। तुमने बड़ो साहस करौ। आदमी ना कर सकते सी तुमने पराक्रम करो। तो खुशी पाए हमने तुमें दो परगने दिए, परगने जलालपुर वा परगने दरसैंडा, सो पाये, जाकौ दोई परगने छः लाख के हैं।

(जेठे सुदि 14 संवत 1783 मु.मेहता)''[13]

उत्तरमध्यकाल में हजारों वर्ष बाद युद्ध के लिए जाती हुई स्त्री का प्रमाण मिलता है जो कि बेहद ही सकारात्मक है, लेकिन हमें याद रखना होगा कि समाज हमेशा पुरुषवादी रहा है। राजनैतिक सत्ता हमेशा पुरुष के हाथ रही है। पुरुष सत्ता के वर्चस्व को नूरजहाँ (वही नूरजहाँ, जिसने कुछ समय के लिए

[12] कुञ्ज बिहारी सिंह, युगप्रवर्तक महराजा छत्रशाल (वेलकम प्रेस, दिल्ली, 2001), पृ.सं 256
[13] कुञ्ज बिहारी सिंह, युगप्रवर्तक महराजा छत्रशाल (वेलकम प्रेस, दिल्ली, 2001), पृ.सं 258

मुगल राजनीति में महत्त्वपूर्ण हस्तक्षेप किया) के, लाहौर स्थित मकबरे पर उत्कीर्ण मर्मस्पर्शी कविता से समझा जा सकता है।

"बर मज़ारे मा ग़रीबां ने चराग़े ने ग़ुले

ने परे परवाना सोज़द, ने सदा-ए-बुलबुले

अर्थात् हम ग़रीबों की मज़ार पर न कोई चराग़ जलता है न गुलाब खिलता है न कोई परवाना आकर अपने पर जलाता है न बुलबुल सदा देती है।''[14]

सांस्कृतिक पृष्ठभूमि

"राजसत्ता का सैनिक-राजनीतिक-आर्थिक प्रभुत्व, शासित समाज पर तभी स्थाई हो पाता है, जब संस्कृति के उपयोग से शासित समाज के ऊपर नैतिक, बौद्धिक, सांस्कृतिक वर्चस्व (हेजेमनी) स्थापित हो सके।"[15] आठवीं सदी के पूर्वार्द्ध से लेकर सत्रहवीं सदी के उत्तरार्द्ध तक यह प्रक्रिया अपेक्षित गति से आगे बढ़ रही थी, जिसे 'मोहम्मद अतहर अली' ने भारतीय इतिहास कांग्रेस के 50वें (गोरखपुर) सत्र के अध्यक्षीय भाषण में इस प्रक्रिया को 'मध्यकालीन सांस्कृतिक प्रस्फुटन' कहा।'[16] अट्ठारहवीं सदी का भारत राजनैतिक आर्थिक उथल-पुथल के साथ-साथ उपनिवेशीकरण के दौर से गुजर रहा था। जाहिर है कि नैतिक, बौद्धिक, सांस्कृतिक वर्चस्व की यह प्रक्रिया काफी प्रभावित हुई होगी। इन प्रभावों की समुचित जाँच करना हमारा दायित्व बनता है। अभी तक उत्तरमध्यकाल को आदि से अंत तक घोर अधः पतन का युग कहा जाता है। चूँकि ऊपर हम देख चुके हैं कि जिस तरह इस युग को अंधकार या पतन का युग समझा जाता था, दरअसल वो ठीक वैसा युग नहीं था, इसलिए हमारा दायित्व बनता है कि उत्तरमध्यकालीन समाज, धर्म और संस्कृति का नए सिरे से मूल्यांकन करें।

गतिशीलता हर समाज व्यवस्था की विशेषता होती है। सबसे अनम्य व्यवस्था भी मामूली गतिशीलता से वंचित नहीं होती। सामाजिक, राजनीतिक और आर्थिक दबाव के काल में भी, व्यवस्था

[14] हरबंस मुखिया, भारतीय मुगल, (आकार बुक्स, दिल्ली, 2008), पृ.सं. 157

[15] रामाज्ञा शशिधर, किसान आंदोलन की साहित्यिक जमीन (अंतिका प्रकाशन, गाजियाबाद, 2012), पृ.सं 24

[16] सं. इरफान हबीब, मध्यकालीन इतिहास, अंक-सात (राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, 2012), पृ.सं. 9-21

की एकजुटता को कमजोर करके, तनावों को सामने लाकर, गतिशीलता को बढ़ावा देने वाली एक ताकत काम कर रही होती है। इस संदर्भ में 'कार्ल मार्क्स' के कथन को देखा जा सकता है कि प्रत्येक सामाजिक व्यवस्था के गर्भ में एक नयी सामाजिक व्यवस्था रहती है। परिपक्व होकर जब ये नयी सामाजिक व्यवस्था रूढ़ हो रही पुरानी व्यवस्था पर बल प्रयोग करती है, तो पुरानी समाप्त हो जाती है। उत्तरमध्यकाल के संदर्भ में मार्क्स के इस कथन को हू-ब-हू तो नहीं, लेकिन अधिकांशतः स्वीकार किया जा सकता है। बड़े पैमाने की गतिशीलता मूलतः अर्थव्यवस्था में वैविध्य और प्रौद्योगिक परिवर्तन की उपज होती है। 'इरफान हबीब' ने 13वीं-14वीं शताब्दी के प्रौद्योगिक परिवर्तन को भक्ति आन्दोलन की मुक्ति चेतना से जोड़ा है। इतना तो तय है कि अट्ठारहवीं सदी में अर्थव्यवस्था के वैविध्य ने सामाजिक गतिशीलता को प्रभावित किया होगा। पेशों की दृष्टि से गतिशीलता आ रही थी और संस्कृतिकरण का सिलसिला चल रहा था। 'उत्तर प्रदेश में कायस्थ, बंगाल में कैवर्त, मैसूर में पंचम बंजिगारु और पंचाल तथा बिहार में अग्रदानी और गंगापुत्र इस काल में नई जातियों के रूप में उभर रहे थे। विखंडन के कई कारण थे, जिनमें पेशें में परिवर्तन, भौतिक स्थिति और धर्मेतर अनुस्वीकृति का भी समावेश था। बहुत सारे ब्राह्मण सूरत के कारखानों में कुलियों का काम कर रहे थे। मिथिला में 68 प्रतिशत ब्राह्मण कृषि कर्म में भाग लेते थे, केवल 12 प्रतिशत पुरोहिताई पर निर्भर थे।'[17] लेकिन इन सारे तथ्यों के बीच महत्त्वपूर्ण तथ्य यह है कि इस काल में गतिशीलता समाज व्यवस्था का केन्द्रीय तत्त्व थी या गौण तत्त्व? क्या यह वैयक्तिक और पारिवारिक थी या फिर व्यापक और सामाजिक थी, जो जाति जैसे संगठित समूहों को प्रभावित कर सकें। उत्तरमध्यकालीन समाज में जाति और वर्ग के बीच अच्छी खासी व्याप्ति थी। भारतीय समाज व्यवस्था का नीति-नियंता इस व्याप्ति को, दूरी को, सोपानी क्रम में बरकरार रखने के लिए शुरूआत से ही सचेत रहा है, लेकिन उत्तरमध्यकाल के राजनैतिक हलचल और उठा-पटक के दौर में स्थानीय स्तर पर शक्ति प्राप्त करना और बनाए रखना प्रभुत्वशाली जातियों के लिए बिलकुल असंभव नहीं था। ये प्रभुत्वशाली जातियाँ कभी-कभी सत्ता के केन्द्र से अपने निजी संबंधों का फायदा उठाकर अपनी जाति से ऊपर उठ जाते थे और फिर उसी व्यवस्था का एक पायदान या कभी-कभी कई पायदानों

[17] के.एन.पणिक्कर, औपनिवेशिक भारत में सांस्कृतिक और विचारधारात्मक संघर्ष (ग्रंथ शिल्पी, दिल्ली, 2009), पृ.सं. 14

के अंग बन जाते थे। आगे हम इन्हीं पायदानों पर से संबंधित व्यक्ति या वयक्तिसमूह पर बात करेंगें। अध्ययन की सुविधा के लिए उत्तरमध्यकालीन समाज व्यवस्था को हम चार भागों में बांट सकते हैं-

1- सत्ताधारी और कुलीन वर्ग।

2- वणिक और जमींदार वर्ग।

3- पेशेवर जातियाँ।

4- चाकर जातियाँ

सत्ताधारी और कुलीन वर्ग समाज व्यवस्था में सबसे ऊपर विराजमान था। इन शासक जातियों में धन-दौलत की अपेक्षा समाज में अपना दर्जा या स्थान बनाए रखने की अधिक चिंता होती थी। धन की हानि शायद ही कभी चिंता का विषय रहा हो। मध्यकालीन भारतीय पुस्तकों में शासकों और दरबारियों के सोपानी स्तर से संबंधित कहानियों की भरमार है। संपत्ति को लेकर लड़ाई, पारस्परिक द्वेष का उल्लेख बहुत कम मिलता है, लेकिन दर्जे के संकेतों खास तौर पर राजा या राज सिंहासन से स्थानिक निकटता को लेकर तनाव की कहानियाँ अपेक्षाकृत ज्यादा लिखी गई। औरंगजेब के दरबार में 7000 के मनसबदारों की अगली कतार के खड़े किये जाने पर शिवाजी के आक्रोश की कहानी, उनका जानबूझकर मूर्छित होना और इसके बाद आगरा से नाटकीय ढ़ंग से भाग निकलना भारतीय लोकसाहित्य में चर्चित एवं लोकप्रिय प्रसंग है। यह कहना तो कठिन है कि यदि औरंगजेब ने शिवाजी की मध्युयगीन संवेदनाओं को थोड़ा और समझने का प्रयास किया होता तो इतिहास की दिशा काफी अलग होती, लेकिन इस घटना से इतना तो तय है कि शासक और जातियाँ समाज में अपने पद या स्थान को लेकर काफी सर्तक थीं। उत्तरमध्यकाल के दौरान 'अख़लाक़ साहित्य' का प्रभाव इन जातियों पर काफी पड़ता है। मध्यकालीन ईरान और भारत में शिष्टाचार के बारे में एक पूरे साहित्य का विकास हुआ, जिसे 'अखलाक' के रूप में जाना जाता है। इसका आदि प्रारूप 'नासिर अलदीन तूसी' की पुस्तक- 'अखलाक-ए-नासिरी' है, जो तेरहवीं सदी के पूर्वार्द्ध में लिखी गई ईरानी रचना है। ऐसा प्रतीत होता है कि तेहरवीं सदी से लेकर सत्रहवीं सदी के बीच इस विधा में किसी पुस्तक की रचना नहीं हुई, कम से कम ऐसी पुस्तक नहीं है, जो अभी उपलब्ध हो। मुगल काल में जहाँगीर के समय में इस प्रकार की अनेक

पुस्तकों की रचना हुई। सम्पूर्ण अखलाक साहित्य दरबार के भीतर और बाहर दरबारी शिष्टाचार के बारे में चिंता व्यक्त करता है। इसका उद्देश्य आभिजात्य वर्ग के लोगों को सामाजिक व्यवस्था के शीर्ष स्तर पर जानबूझकर कायम कर देना है। इस विशिष्ट रूप का संबंध खाना-पीना, उठना-बैठना, शिक्षा, यौन क्रिया से होते हुए उत्तरमध्यकालीन नजाकत और नफ़ासत से है। भले ही गुरबत के दिन क्यों न हो 'खिलअत प्रदान करना, नजराना पेश करना इस वर्ग के लोगों की शान में चार-चाँद लगाती थी।

व्यापारी और जमींदार जातियाँ समाज व्यवस्था के दूसरे पायदान पर थीं। इस जाति समूह में तथाकथित हिन्दू वर्ण व्यवस्था के सर्वोच्च शिखर पर विराजमान ब्राह्मण और उच्चजाति के हिन्दुओं का दबदबा था। ये जातियाँ अपने सामंती चरित्र को बरकरार रखे हुए थीं।

पेशेवर जातियों का संबंध सीधे अर्थव्यवस्था से था। इन जातियों के अन्तर्गत दस्तकार, काश्तकार, मुदर्रिस, विद्वान, कातिब/मुहर्रिर, शायर, हकीम, तीमारदार, ज्योतिषी, खगोलविद्, वास्तुशिल्पी, चित्रकार, संगीतकार, उस्ताद कारीगर, छोटे सौदागर, धर्मशास्त्री, आदि आते थे। ये लोग अपनी पेशेवर महारतों को बेचकर अपनी रोजी कमाते थे। व्यक्तियों के रूप में वे अक्सर किसी कुलीन या हाकिम के मुलाजिम होते थे। साहित्यिक साक्ष्यों के लगभग पूर्ण अभाव में 'एस.अली नदीम रिज्वी' मुगल लघुचित्रों के अध्ययन से इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि 'इन मध्यवर्गीय पेशेवर जातियों में भी पदानुक्रम विद्यमान था और जाति व्यवस्था का सोपानी भेद यहाँ भी पाया जाता था। जिसकी दस्तार (पगड़ी) जितनी लंबी होती थी वह उतना प्रतिष्ठित समझा जाता था। दस्तार और लिबास ही व्यक्ति की सामाजिक स्थिति और गरिमा का सूचक होता था।'[18]

समाज व्यवस्था में सबसे नीचे तथाकथित 'अछूत' चाकर जातियाँ थीं। संतों की जोरदार अपीलों और धर्मान्तरण के बावजूद उनकी पतित अवस्था में ऐसा नहीं लगता कि कोई परिवर्तन आया हो। पूर्व मध्यकाल में जब पहली बार शूद्रों ने संत पैदा किए तो भी इनकी स्थिति में सुधार क्यों नहीं आया? ये बड़ा प्रश्न है? ऐसा भी नहीं है कि उत्तरमध्यकालीन संतों की वाणी ज्यादा प्रभावी नहीं रह गई थी। कबीर,

[18] सं. इरफान हबीब, मध्यकालीन इतिहास, अंक-सात (राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, 2012), पृ.सं. 122-151

नानक, रैदास आदि पूर्वमध्यकालीन संतों की अपेक्षा उत्तरमध्यकालीन संत पलटू, बुल्लेशाह आदि की वाणी ज्यादा लाउड और रेडिकल थी। साथ ही चाकर जाति समूहों में बचैनी और तनाव था। धर्मान्तरण सामाजिक और आर्थिक तनावों का ही परिणाम था। इन जाति समूहों में भक्त संतों की वाणी की व्यापक लोकप्रियता थी। इनमें से कुछ जातियों की कबीरपंथी और रैदासी जैसी पहचान ब्राह्मणवादी व्यवस्था के अस्वीकार का सूचक है। हालांकि विडम्बना यह है कि यह जाति व्यवस्था के लोकाचार की ओर वापसी का भी सूचक है। दरअसल उत्तरमध्यकाल में केन्द्रीय सत्ता के कमजोर होते ही ब्राह्मणवाद मजबूत हो रहा था। जिसने चाकर जातियों की समस्या को और भी बढ़ाया। उत्तरमध्यकालीन संक्रमण के दौर में ऐसा कोई सामाजिक या आर्थिक आवेग पैदा नहीं हुआ, जो इन जातियों को ऊँची पायदान की जातियों के पास ले जाए, उनके बीच की दूरी कम करें। वरन् बाद के दिनों में केन्द्रीय सत्ता के कमजोर होने पर क्षेत्रीय राजनीति में धर्मतंत्र एवं राजतंत्र के गठजोड़ से शोषण एवं दमन चक्र को बढ़ाया ही गया।

इस्लाम जिस समतावादी विश्वास प्रणाली के साथ भारतीय उपमहाद्वीप में दाखिल हुआ, ऐसा लगता था कि भारतीय समाज का वह असमान सोपानी संगठन नष्ट हो गया होगा, जिसे जाति शब्द व्यक्त करता है। लेकिन कालांतर में भारत के उदीयमान मुस्लिम समाज में जाति व्यवस्था के लोकाचार का समावेश हुआ। हालांकि 'उत्तरमध्यकाल के आर्थिक वैविध्य के कारण भूपति किसानों के राजपूत बनने की सामाजिक गतिशीलता अक्सर देखी जा रही थी। शिवाजी जिनके बारे में कहा जाता है कि वह निम्न कुल का मराठा था, अपने को क्षत्रिय बताता था। जब महाराष्ट्र के ब्राह्मण उसे मानने से इन्कार कर देते हैं तब वह काशी के ब्राह्मण द्वारा अपने पद एवं जाति को मान्यता प्राप्त करवाता है। ''भूमि और राजनैतिक सत्ता पर नियंत्रण के बाद भी ब्राह्मणों के समर्थन और उच्च वंशावली के बिना उच्चतर वर्ण-स्तर प्राप्त नहीं किया जा सकता था। उत्तर भारत में राजपूतों का उदय उन व्यक्तियों के मध्य एक मौन गठजोड़ का प्रतिनिधित्व करता था जिनका भूमि पर नियंत्रण था और जिनके पास राजनैतिक ताकत थी और ब्राह्मण एक प्रकार से ताकतवर वर्गों की हर बात को न्यायसंगत ठहराते थे।''[19] इसी तरह उत्तरमध्यकाल में

[19] सतीशचंद्र, मध्यकालीन भारत में इतिहास लेखन,धर्म और राज्य का स्वरूप (ग्रंथ शिल्पी, दिल्ली, 2013), पृ.सं. 87

स्थानीय स्तर पर शक्ति प्राप्त कर कई छोटी-मोटी जाति के योद्धा राजपूत बन गए लेकिन एक व्यक्ति के राजपूत बनने से जाति समूह के उत्थान का कोई स्पष्ट वर्णन नहीं मिलता है। उत्तरमध्यकाल की सामाजिक और आर्थिक गतिशीलता में वैयक्तिक और पारिवारिक उत्थान तो हुआ, शाही कृपा के कारण इन्हें शासक वर्गों की स्वीकृति भी मिली, लेकिन इस गतिशीलता ने जाति जैसे संगठित समूह को दूर तक प्रभावित नहीं किया।

किसी भी समाज व्यवस्था के सभ्यता एवं संस्कृति का मूलाधार धर्म एवं धार्मिक विचार होते हैं जो कि सामाजिक गतिशीलता को दूर तक प्रभावित करते हैं। ऑगस्ट काम्टे ने धर्म की उन्नति को सामाजिक गतिशीलता का मूल बताया है, जिससे पैदा हुई नैतिक चेतना सामाजिक विकास का आधार बनती है। अक्सर उत्तरमध्यकाल के धर्म और धार्मिक विचार को औरंगजेब की धार्मिक कट्टरता और उसके फलस्वरूप बहुसंख्यक आस्था में आए उबाल के रूप में देखा जाता है। 'सर जदुनाथ सरकार' ने 1928 में लिखी पुस्तक 'हिस्ट्री ऑफ औरंगजेब' में बताया कि "मुगल साम्राज्य को भंग करने के लिए अकेले औरंगजेब जिम्मेदार था क्योंकि उसने हिंदुओं को अपना विरोधी बना लिया था। वह संपूर्ण भारत में सही रूप में एक इस्लामी राज्य (दारूल इस्लाम) की स्थापना करना चाहता था, जिसका अर्थ समस्त आबादी का इस्लाम में परिवर्तन और प्रत्येक रूप में असहमति को समाप्त करना था।"[20] राष्ट्रवादी इतिहासकार 'डॉ. आर.पी. त्रिपाठी' ने भी अपना तर्क रखते हुए कहा है कि 'औरंगजेब के सभी कार्य और राजनीतिक विचार, हिंदुओं के राजद्रोह एवं अखिल भारतीय स्तर पर उठ रहे हिंदुओं के विरोध के समानांतर बनाए जा रहे थे।'[21] इतिहासकारों की इस तरह की व्याख्या ने उत्तरमध्यकाल के धार्मिक प्रश्नों को सांप्रदायिक रंग में रंग दिया।

आज जब इतिहास का पुनर्व्याख्या हो रही है, तथ्यों को जुटाया जा रहा था एवं उनका विश्लेषण बिना किसी पूर्वाग्रह के हो रहा है, तब औरंगजेब एवं उत्तरमध्यकाल के धार्मिक प्रश्नों को फिर से देखना जरूरी हो जाता है। मुगल साम्राज्य के पतन से संबंधित सर जदुनाथ सरकार की सांप्रदायिक व्याख्या अब

[20] सतीशचंद्र, मध्यकालीन भारत में इतिहास लेखन,धर्म और राज्य का स्वरूप (ग्रंथ शिल्पी, दिल्ली, 2013), पृ.सं. 116
[21] सतीशचंद्र, मध्यकालीन भारत में इतिहास लेखन,धर्म और राज्य का स्वरूप (ग्रंथ शिल्पी, दिल्ली, 2013), पृ.सं. 117

लगभग समाप्त हो चुकी है। हम ऊपर देख चुके हैं कि यह साम्राज्य का पतन न होकर सत्ता एवं शक्ति का विकेन्द्रीकरण था, जिसको औपनिवेशिक व्यापार और पूंजी ने हवा दी। ये व्यापारी शक्ति संतुलन को अपने पक्ष में बनाए रखने के लिए ज्यादा से ज्यादा मुनाफा कमाने के लिए किसी भी हद तक जा सकते थे। 'डब्ल्यू. एच. मोरलैंड' ने अपनी शोधपरक पुस्तक 'अकबर से औरंगजेब तक' में सत्रहवीं सदी के प्रारंभ में असाधारण व्यापारिक विकास का अध्ययन किया है। इस असाधारण विकास को नील निर्यात के एक आंकड़े से समझा जा सकता है। '1602 में 20 सैंटमवेट नील का निर्यात हुआ जबकि अगले ही साल यह आंकड़ा 940 सैंटमवेट पहुंच गया।'[22] इसी तरह की आशातीत वृद्धि शोरा, सूती कपड़ा एवं अन्य वस्तुओं के संदर्भ में देखी जा सकती है। कहने का आशय यह है कि व्यापारिक पूंजी के आगमन ने सत्ता-संबंधों को ज्यादा प्रभावित किया ना कि धार्मिक प्रश्न ने।

अक्सर औरंगजेब के उत्तराधिकार युद्ध को धार्मिक प्रश्न से जोड़ा देखा जाता है। कहा जाता है कि हिन्दू कुलीन वर्ग औरंगजेब के खिलाफ थे। लेकिन 'उत्तराधिकार के युद्ध (1658-59) में धार्मिक प्रश्न' विषयक समस्या पर बात करते हुए 'एम. अतहर अली ने लिखा है कि ''कुलीनों के सभी धार्मिक और जातीय भागों की निष्ठाएँ बँटी हुई थीं। यह बात दारा और औरंगजेब दोनों के मामले में स्पष्ट है, जिनके समर्थनों में सभी महत्वपूर्ण तबके के लोग थे। 23 हिंदू कुलीनों (11 राजपूत, 10 मराठा, 2 अन्य हिन्दू) ने औरंगजेब और मुराद का साथ दिया, जबकि 24 हिन्दू कुलीनों (22 राजपूत, 2 अन्य हिंदू) ने दारा शिकोह की तरफदारी की। ये आंकड़े मात्र धार्मिक आधार पर कुलीनों की किसी कतारबंदी का प्रमाण नहीं देते।''[23] तख्त हासिल करने के बाद औरंगजेब ने जयसिंह को दकन का वायसराय बनाया जो समूचे साम्राज्य के संभवत: सबसे महत्वपूर्ण पदों में से एक था। जसवंत सिंह को दो बार गुजरात का सूबेदार बनाया गया। अकबर की मृत्यु के पहली बार हिन्दू शासक राजा रघुनाथ को साम्राज्य का दीवान नियुक्त किया। वास्तव में औरंगजेब राजपूतों के महत्व के प्रति पूर्ण रूप से सचेत था और शाहजहाँ की मृत्यु के

---

[22] डब्ल्यू.एच.मोरलैंड, अकबर से औरंगजेब तक (ग्रंथ शिल्पी, दिल्ली, 2013), पृ.सं. 97

[23] सं. इरफान हबीब, मध्यकालीन इतिहास, अंक-चार (राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, 2012), पृ.सं. 120

बाद आसन्न नागरिक युद्ध को ध्यान में रखते हुए उसने प्रमुख राजपूत राजाओं, विशेष रूप से उदयपुर और अंबेर के शासकों के साथ मित्रता बढ़ाई।

कहा जाता है कि बाद के दिनों में औरंगजेब ने मंदिरों को सामान्य रूप से तोड़ने का आदेश जारी किया। लेकिन इसे हवा में स्वीकार नहीं किया जा सकता इसका कोई आधार नहीं है। ना ही कोई ऐतिहासिक प्रमाण है और ना ही साहित्यिक साक्ष्य। अगर इस तरह का फरमान जारी किया गया होता तो जाहिर है कि एक धर्म विशेष में खलबली मच गई होती। 'साकी मुस्तैद खां' के सिवा किसी पर पर्यवेक्षक ने इसका जिक्र तक नहीं किया है। एक ओर जहाँ औरंगजेब पर निराधार रूप से मंदिरों को गिराने का आरोप लगाया जाता है वहीं दूसरी ओर दस्तावेजों के अध्ययन से यह पता चलता है कि औरंगजेब ने गैर-मुस्लिम पूजा स्थानों को भूमि अनुदान और दूसरी प्रकार की सहायता देना जारी रखा। 'इरफान हबीब' ने राजकमल प्रकाशन समूह द्वारा प्रकाशित 'मध्यकालीन भारत' के सातवें अंक में वृंदावन के मंदिर के दस्तावेज का अध्ययन कर औरंगजेब के दौर के आखिरी वर्षों (1704) में मंदिर को दिए गए कर की ओर ध्यान आकर्षित किया है तब औरंगजेब की धार्मिक नीतियों को सांप्रदायिक रंग देना कहां तक न्यायसंगत होगा?

औरंगजेब इतना अदूरदर्शी शासक नहीं था जो आस्था के प्रश्नों से टकराता। धार्मिक मामलों से निपटने के लिए उसने कूटनीति का सहारा लिया। एक तरफ जहाँ वो हिन्दू मेलों पर प्रतिबंध लगाया तो दूसरी ओर तजिया निकालने पर भी रोक लगा दिया। अपने शासन के 22वें वर्ष 1679 में शरिया के आधार पर जजिया कर को फिर से शुरू किया। 'प्रश्न यह है कि यदि वह कदम विशुद्ध रूप से एक कट्टर कदम था तब कट्टर वर्गों की निरंतर मांगों के बावजूद औरंगजेब ने उसे फिर से शुरू करने से पहले 22 वर्शों की प्रतीक्षा क्यों की?'[24] जाहिर है ये उसकी कूटनीति का अंग रहा होगा। इसी तरह कूटनीति का सहारा हिन्दू धर्म के संदर्भ में भी उसने कई बार लिया। मंदिरों व मठों को दान दिया, कुछ मंदिरों का जीर्णोद्धार भी करवाया तो वहीं प्रणामी संप्रदाय के संस्थापक 'महामति प्राणनाथ' से मिलने एवं सह-

[24] सतीशचंद्र, मध्यकालीन भारत में इतिहास लेखन,धर्म और राज्य का स्वरूप (ग्रंथ शिल्पी, दिल्ली, 2013), पृ.सं. 119

संबंध बनाए रखने का कई बार प्रयास भी किया, इस संदर्भ में हैं प्रणामी संप्रदाय के तमाम ग्रंथों (विज्ञान सरोवर, तारतम सागर, निजानंद सागर आदि) को देखा जा सकता है। औरंगजेब की कूटनीति धार्मिक सह-संबंध पर आधारित था जिसमें वो हिन्दू भी दिखना चाहता। लेकिन वो अकबर की तरह सफल नहीं हो सका। इस असफलता के कई कारण हैं। जिसका संबंध उत्तरमध्यकाल की राजनैतिक उठा-पटक से है जिसका जिक्र किया जा चुका है।

अब हम उत्तरमध्यकाल में ब्राह्मण धर्म की स्थिति पर आते हैं। मध्यकाल में भक्त कवियों के माध्यम से सनातन धर्म की फिर से प्रतिष्ठा हो रही थी। सगुण भक्ति कविताओं में बहता हुआ प्रेम और भक्ति की उल्लसित धारा ने जनसाधारण और उच्च वर्गों पर गहरा प्रभाव छोड़ा। इस प्रभाव ने ब्राह्मण धर्म को फिर से केंद्र में लाया। इसके बढ़ते प्रभाव ने अकबर की धार्मिक नीतियों को प्रभावित किया। जिस समय वल्लभाचार्य 'म्लेच्छा क्रान्तेषु देशेषु' का नारा बुलंद कर रहे थे ठीक उसी समय वे मलेच्छ शासकों से दान भी पा रहे थे। 'तारापद मुखर्जी एवं इरफान हबीब' ने दस्तावेजों के अध्ययन से मथुरा एवं उसके आस-पास के क्षेत्र में हजारों एकड़ जमीन दान एवं कर-उगाही के लिए दिया जाने का जिक्र करते हैं। इसी संदर्भ में गौडीय संप्रदाय के वैष्णव 'सूरदास मदनमोहन' का एक पद देखा जा सकता है -

''तेरह लाख संडीले आए, सब साधुन मिलि गटके।
सूरदास मदनमोहन आधी रातहिं सटके।।''[25]

आचार्य शुक्ल ने इस पद की व्याख्या कुछ इस तरह किया है कि -ये (सूरदास मदनमोहन) जो कुछ पास में आता, प्राय: सब साधुओं की सेवा में लगा दिया करते थे। सण्डीला तहसील की मालगुजारी के कई लाख रुपये सरकारी खजाने में आई। इन्होंने सब-का-सब साधुओं का खिला-पिला दिया। बहरहाल इस पद एवं दस्तावेजों से इतना तो साफ है कि ब्राह्मण धर्मावलंबी को दान के अलावा मालगुजारी उगाही करने के लिए जमीन दिया जाता था। कई बार वो पैसों को हजम भी कर लेते थे। ये ब्राह्मण धर्मावलंबी तथाकथित म्लेच्छों के शासन में उनके साथ गठजोड़ कर खुद की सीकरी का निर्माण

[25] रामचंद्र शुक्ल, हिंदी साहित्य का इतिहास (विश्वविधालय प्रकाशन, वाराणसी, 2013), पृ.सं. 120

कर रहे थे। उत्तरमध्यकाल में यह प्रवृत्ति चरम पर थी। वैष्णव संप्रदाय में अनैतिक आचरण और प्रथाएँ शुरू हो चुकी थीं। वैष्णव परंपरा में शुरू 'गोसाई महाराज' की परंपरा एक विशेष प्रकार की मठाधीशी की ओर इशारा कर रहा है। ''वैष्णव संप्रदाय के अंतर्गत पुष्टि मार्ग के मुताबिक भक्त का अंतिम लक्ष्य कृष्ण के साथ एकाकार हो जाना है। यह एकता जिस उपासना मार्ग से होती है उसे तय करने का काम वल्लभ संप्रदाय के गुरू करते थे जिन्हें 'महाराजा' कहा जाता था। इन महाराजों को पूजा-उपासना का स्वरूप तय करने से लेकर भक्तों के जीवन तक का पूरा अधिकार होता था। वे संप्रदाय के भक्तों की स्त्रियों को अपने साथ सोने के लिए भी अधिकारपूर्वक आज्ञा देते थे। भक्त उन्हें अपनी स्त्रियों का संकल्प दान करते थे।[26] इन बुरी प्रथाओं का विरोध 17वीं सदी में 'दामोदर भट्ट' और 19वीं सदी के शुरू में 'श्री नारायण स्वामी' ने किया था, पर इसे उखाड़ नहीं पाए। भारतीय नवजागरण के दौरान सन् 1861 ई. प्रसिद्ध 'महराज लाइबेल केस' में वल्लभ संप्रदाय के बुराइयों के सबूत सामने आए थे। भक्त परिवार के स्त्रियों के यौन-शोषण से लेकर ब्राह्मण धर्म के भीतर की तमाम विसंगतियाँ इस केस में दिखाई गई। ब्राह्मण धर्म की इन्हीं विसंगतियों को देखते हुए 1875 में दयानंद सरस्वती ने 'सत्यार्थ प्रकाश' में पुष्टि संप्रदाय को 'कुष्ठी संप्रदाय' कहते हुए गोसाइयों को सूजन और भगंदर जैसे यौन रोगों से पीड़ित होकर मरने की बात लिखी है।

पूर्व मध्यकाल में भक्ति आंदोलन के साथ कई संप्रदाय उठ खड़े हुए थे। इनके अपने अनुयायी होते थे। जिनकी संख्या बीस-पच्चीस हजार के पास होती थी। समय के साथ धीरे-धीरे इस संप्रदायों की गुरू-परंपरा गुरूडम में बदलने लगा। गुरूओं का असीमित विशेषाधिकार ने धर्म सम्मत शोषण को बढ़ावा दिया। उत्तरमध्यकाल तक आते-आते ब्राह्मण धर्म में दुराचरण की जड़ें काफी गहरी पैठ चुकी थी, जिसके मूल में धर्मगुरू की सत्ता थी। धर्म गुरूओं के शोषक-चरित्र का अनुमान लगाकर ही सिख धर्म के दूरदर्शी गुरू 'गुरू गोविंद सिंह' ने गुरू-परंपरा को खत्म किया होगा। जबकि ब्राह्मण धर्म में गुरू-परंपरा, गुरू-महिमा का अपना महत्व था। ब्राह्मण धर्म में नैतिक रूप से आई गिरावट को हम भारतीय नवजागरण

---

[26] वीर भारत तलवार, रस्साकशी (सारंश प्रकाशन, हैदराबाद, 2006), पृ.सं. 158-159

के सुधारवादी आन्दोलन में भी देख सकते हैं। भारतीय नवजागरण की मुख्य चिंता का विषय धर्म में घुस आई बुराइयों को दूर भगाना भी था।

भारतीय नवजागरण के दौरान यह चिंता जगह-जगह व्यक्त भी हुआ है। नवजागरण के दौरान धर्म एवं धार्मिक सुधार आंदोलन तो हुए लेकिन शोषण की बुनियाद पर खड़े धर्मतंत्र पर कभी भी हमला नहीं हुआ। यह भारतीय नवजागरण का अपना अंतर्विरोध है जिसकी पड़ताल 'वीरभारत तलवार' ने अपनी पुस्तक 'रस्साकशी' में तफ्शील से की है। उत्तरमध्यकाल का 'सांस्कृतिक प्रस्फुटन' धर्म एवं धर्मतंत्र के दायरे को अपने जद में ले रहा था। एक सामासिक संस्कृति का जन्म हो चुका था। उसकी जड़ें गहरी पैठ चुकी थी। लेकिन भारतीय नवजागरण के पुरोधा इस धार्मिक मेल-जोल को धार्मिक पतन समझते थे। वे इस सांस्कृतिक प्रस्फुटन को धर्म में घुस आई बुराई समझते थे। भद्रवर्गीय मुस्लिम और अभिजात्य वर्गीय हिंदू अपने-अपने निजी स्वार्थों के लिए धार्मिक शुद्धता पर जोर दे रहे थे ना कि धर्म तंत्र के उन बुराइयों पर जो धर्म के नाम पर शोषण को बढ़ावा दे रहा था। इन्हीं निजी स्वार्थों के कारण आज भी यह समस्या उसी तरह बरकरार है। आज 21वीं सदी में भी कई धर्मगुरू धर्म के नाम पर स्त्रियों के भीषण योनि शोषण में जुटे हुए हैं। आज विज्ञान के युग में भी धर्म एवं धर्मिक विसंगतियों पर कोई सीधे-सीधे बात नहीं कर सकता है धर्मतंत्र पर सवाल खड़ा नहीं कर सकता। विसंगतियों को दूर करने की बात तो टेढ़ी खीर है।

उत्तरमध्यकाल में एक ओर जहाँ तमाम विसंगतियाँ व्याप्त हो चुकी थी वहीं दूसरी धर्म, धार्मिक रीति-रिवाजों में लोकाचार भी दिखाई पड़ता है। धार्मिक मिश्रण और आदान-प्रदान का असर धर्म पर भी पड़ा जो कि एक सकारात्मक परिवर्तन था। वे रूढ़ हो चुके शास्त्रीय धर्म के अनुसार संचालित नहीं होते थे। ''वे एक-दूसरे के धार्मिक त्योहारों में हिस्सा लेते और एक जैसे देवी-देवताओं, पीरो-फकीरों की मनौतियां मानते थे। ...हिन्दुस्तान में बसे 4365 समुदायों में से पैंतीस ऐसे समुदाय हैं जो हिंदू और इस्लाम दोनों धर्म को मानते हैं। हिंदू और ईसाई दोनों धर्मों को एक साथ मानने वाले समुदायों की संख्या 116 है। सोलह समुदाय ऐसे हैं जो एक साथ हिंदू, इस्लाम तथा सिख धर्म पर विश्वास रखते हैं। जैन-हिंदू और बौद्ध-हिन्दुओं के साथ भी यही बात है। 94 समुदाय ऐसे हैं जो ईसाई और आदिवासी दोनों धर्म को मानते

हैं।''[27] धर्म एवं धार्मिक मूल्यों में यह लोकाचार उत्तरमध्यकाल में ही शुरू हो चुका था। अकबर के दरबार का महान फारसी शायर 'उर्फी' की आकांक्षाओं को देखिए-

''उर्फी, तू अच्छे-बुरे हर तरह के लोगों में इस तरह जी कि जब तू मरे
मुसलमान तेरे बदन को ज़मज़म के पानी से गुस्ल दें और हिंदू तेरी चिता जलाएं।''[28]

उत्तरमध्यकालीन धर्म के संदर्भ में कहा जाता है कि इसने हिन्दू आस्था को एकजुट करने का सकारात्मक प्रयास किया। 'सतनामी संप्रदाय' के 'जगजीवन दास' ने तो केंद्रीय सत्ता के खिलाफ मोर्चा ही खोल दिया। 'महामति प्राणनाथ' (प्रणामी/धामी संप्रदाय) ने छत्रशाल के माध्यम से केंद्रीय सत्ता से लोहा लिया। महाराष्ट्र के धर्मगुरूओं ने 'मराठा राष्ट्रवाद' को जन्म दिया। इसी तरह कई और धर्मगुरू हुए। लेकिन जब हम तफ्शील से देखते हैं तो पाते हैं कि मुसलमानी आतंक से हिंदुओं को छुटकारा दिलाने का आदर्श गढ़ा जा रहा था इस्लामी शासकों के चरित्र को तानाशाह के रूप में दिखाया जा रहा था जो हिन्दुत्व की भावना को प्रबल करने में सहायक थी। ये धर्मगुरू हिन्दू कुलीनों के साथ मिलकर विभ्रम का एक ताना-बाना बुन रहे थे जिसे राष्ट्रवादी विचारकों ने बाद में 'हिन्दू राष्ट्रवाद' की संज्ञा दी। लेकिन जब हम देखते हैं तो पाते हैं कि कुलीन लोगों का वर्ग-चरित्र नहीं बदला, धर्म एवं धार्मिक संस्था की सामाजिक अंतर्वस्तु सामंती ही थी। दरअसल धर्मतंत्र एवं कुलीनतंत्र के सहयोग से उदित हो रहा राष्ट्रवाद सामंती छीना-झपटी के अलावा कुछ नहीं था। उत्तरमध्यकाल में धर्मतंत्र एवं राजतंत्र के गठजोड़ ने शोषण की प्रक्रिया को और तेज किया। 'अट्ठारहवीं सदी बढ़ते हुए धार्मिक विवादों और संघर्ष का युग न होकर राजनीतिक फूट का युग था जिसमें समझौता और पारस्परिक समझ बनाए रखने की प्रवृत्ति बहुत शक्तिशाली थी।'[29]

इस काल में मुगल सम्राटों व कुलीनों ने भी दशहरा, दीवाली जैसे हिन्दू त्योहारों में भाग लिया, वसंत पंचमी का आयोजन काफी भव्य स्तर पर मनाया जाता था। उत्तरमध्यकाल में एक सांस्कृतिक रिसाव की प्रक्रिया जारी थी। हिंदवी भाषा का जन्म इसी प्रक्रिया की देन है। चूंकि इस्लाम के आगमन के 600

---

[27] वीर भारत तलवार, रस्साकशी (सारंश प्रकाशन, हैदराबाद, 2006), पृ.सं. 257
[28] सं. इरफान हबीब, मध्यकालीन इतिहास, अंक-सात (राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, 2012), पृ.सं. 21
[29] सतीशचंद्र, मध्यकालीन भारत में इतिहास लेखन,धर्म और राज्य का स्वरूप (ग्रंथ शिल्पी, दिल्ली, 2013), पृ.सं. 113

वर्षों के बाद भी फारसी भाषा का प्रयोग सीमित था इसलिए आम बोल-चाल में उर्दू, हिंदवी, रेख्ता का जन्म हुआ। यह ठीक है कि मुगल दरबार में फारसी भाषा के कवियों की बड़ी फेहरिस्त थी जिसका जिक्र 'अबुल फजल' और 'बदायूंनी' ने किया है लेकिन इन कवियों में ज्यादातर मध्य एशिया और ईरान के थे। भारतीय उपमहाद्वीप के कवि नहीं थे। चूंकि फारसी भारतीय जनमानस के अवचेतन में पर्याप्त रूप से अंत:स्थापित नहीं हो पाई थी इसलिए इसकी पूर्ति हिंदवी से हुआ, जिसकी जड़ें सांस्कृतिक लोकाचार में थी। यह लोकाचार कई स्तरों पर देखा जा सकता है।

मुगल परिवार में भी यह लोकाचार देखा जा सकता है। ''मुगल परिवार के बारे में लोगों में प्रमुख रूप से यह धारणा है कि एक हरम में बहुत सी महिलाएँ होती थीं। इनका काम केवल एक व्यक्ति यानी शहंशाह को खुश रखना होता था जिसकी काम वासना अतोषणीय थी। 'हरम' शब्द ही एक विशाल क्रीड़ा-स्थल की छवि देता है जहाँ शहंशाह अपनी वासनात्मक कल्पनाओं को हर आकार, रंग, अलग-अलग सांप्रदायिक समूह की सैकड़ों महिलाओं के साथ मूर्त रूप देता था। लेकिन वास्तव में इस धारणा के विपरीत 'हरम' एक पवित्र शब्द है। यह पूजा-स्थल परमपावन गर्भ-गृह को इंगित करता है, जहाँ कोई भी पाप करना हराम था। अत: कम से कम अवधारणा की दृष्टि से यह अन्य संबंधों के साथ-साथ यौन-संबंधों में भी संयम का स्थान था न कि अतिशयता का।''[30]हरम का संबंध अतोषणीय काम वासना से नहीं था। हरम में महिलाओं को उचित सम्मान मिलता था, उनकी शुचिता परिवार के लिए जरूरी नियम कायदे में से एक था। मुगल इतिहास पर बात करते हुए इतिहासकार कहते हैं कि आरंभ में महिलाओं को काफी आजादी थी। इन्हें पवित्रता एवं शुचिता के आधार पर नहीं देखा जाता था। वे घुड़सवारी कर सकती थीं, शिकार पर जाती थीं, तीरंदाजी करती थीं, वन विहार करने का भी जिक्र मिलता है। परवर्ती मुगलों ने 'स्त्री-शुचिता' पर ज्यादा जोर दिया। अकबर के समय से पवित्रता की धारणा स्त्री शरीर से जुड़ गई और इसे पूरी तरह यौन अर्थों में समझा जाने लगा। यह बाबर और हुमायूं के शासनकाल के बिल्कुल विपरीत था। 'हरबंस मुखिया' इस परिवर्तन को राजपूती सांस्कृतिक परंपरा का असर मानते हैं। उनके

[30] हरबंस मुखिया, भारतीय मुगल, (आकार बुक्स, दिल्ली, 2008), पृ.सं. 152

अनुसार ''...राजपूत राजकुमारी से 1562 ई. में अकबर की शादी के बाद से ही उस पर राजपूती सांस्कृतिक परंपरा का असर बढ़ रहा था। स्त्री शरीर में ही परिवार की आबरू निहित होने की राजपूतों की सोच और स्त्री की यौन शुचिता के प्रति उनकी आसक्ति के बारे में कहानियों की भरमार है।''[31] इस तरह का एक मौन सांस्कृतिक निस्यंदन परतवीं मुगल परिवार में देखने को मिलता है, जिसके कारण सर्वगुण संपन्न होने के बावजूद शहंशाह अपनी बेटी की शादी इसलिए नहीं कर पाता क्योंकि शहंशाह के साम्राज्य में उससे श्रेष्ठ कोई परिवार नहीं बचा था।

हिन्दू सांस्कृतिक लोकाचार से मुगल परिवार काफी प्रभावित हुआ था। चिकित्सीय उपचार के साथ जादुई उपचार, टोना-टोटका के साथ-साथ दानशीलता को अंतिम जादुई उपचार में देखा जा सकता है। अकबर का 'झरोखा दर्शन', 'चमत्कारिक शक्तियों वाले गाजी मियां' लोकाचार के ही उदाहरण हैं। 'निसार' प्रथा भी मुगल परिवार में व्याप्त था। इतिहास की कई पुस्तकों में इस तरह की कहानी मिल जाएंगी 'जिसमें कुछ पैसे हाथ में लेकर उसे बीमार व्यक्ति, दुल्हा या दुल्हन के या अन्य कोई पीड़ित व्यक्ति या जिसके प्रभावित होने की संभावना है, के सिर के चारों ओर घुमाया जाता है ताकि वर्तमान या संभावित बुरी बला उस पैसे में आ जाए।

''यदि लोकाचार के सिद्धांतों और प्रथाओं का मुगल दरबार में आना सांस्कृतिक संचलन का पहलू था तो विपरीत दिशा में इनका संचलन उतना ही सघन था। फारसी भाषा का आम लोगों में पहुंचाना (थोड़ा-बहुत ही सही) और उर्दू का विकास, हवेली की धारणा जो कि स्थानीय स्तर पर शाही महलों का छोटा रूप था, मुशायरे का आयोजन, कुछ पुराने नृत्य और संगीत, खास तौर पर ध्रुपद, खयाल, कत्थक, मुगलई पकवान आदि में मुगल दरबार की संस्कृति के गली के नुक्कड़ों तक पहुंचने के प्रमाण मिलते हैं। यहां तक कि अपने से बड़ों के प्रति अदब तथा सम्मान प्रदर्शित करने के लिए उनके सामने खड़ा होना, यदि बैठे हों तो उनसे नीचे स्थान ग्रहण करना, सभा में उनके सामने ज्यादातर चुप रहना और केवल सीधे तौर पर दिये गये प्रश्नों का उत्तर देना - ये सब बातें मुगल दरबार की संस्कृति से

[31] हरबंस मुखिया, भारतीय मुगल, (आकार बुक्स, दिल्ली, 2008), पृ.सं. 169-171

व्युत्पन्न हैं और आम लोगों में प्रसारित होकर रोजमर्रा की भारतीय संस्कृति का हिस्सा बन गई।''[32] भारतीय इतिहास का उत्तरमध्यकाल विशिष्ट रूप से गतिशील सांस्कृतिक प्रवाह का साक्षी रहा है। नवनिर्मित भद्र वर्ग एवं लोक संस्कृति के बीच की गोचर दूरियाँ टूट रही थी। 21वीं सदी के भारत में भी वहीं सामान्य सांस्कृतिक मूल्य आज भी विद्यमान हैं।

[32] हरबंस मुखिया, भारतीय मुगल, (आकार बुक्स, दिल्ली, 2008), पृ.सं. 220

बीसवीं शताब्दी का प्रारंभिक दौर:स्त्रियों की सामाजिक एवं रचनात्मक उपस्थिति के आयाम

भारतीय इतिहास के जिस कालखंड को हम 'उत्तरमध्यकाल' शब्द से अभिहित करते हैं, इतिहास का वह कालखंड औपनिवेशीकरण का है। भारतीय उपमहाद्वीप का उत्तरमध्यकाल भारत पर औपनिवेशिक शासन का प्रारंभिक दौर है। मार्क्स ने औपनिवेशिक भारत को तीन चरणों में बांटा है। प्रथम चरण में ईस्ट इंडिया कंपनी द्वारा भारत को बेतहाशा लूटा गया और प्रारंभिक तौर पर पूंजी का संकेंद्रण हुआ। द्वितीय चरण को मार्क्स ने पूंजी के पुनरूत्पादन का विस्तार कहा। इस द्वितीय चरण में भारत को इंग्लैंड के उद्योगों द्वारा तैयार माल के लिए मंडी के तौर पर विकसित किया गया। तृतीय चरण में भारत में उत्पादन शक्ति को स्थापित करने के लिए रेलवे, डाक, तार आदि का विकास हुआ जिसने अन्य उद्योगों को भी बढ़ावा दिया। उत्तरमध्यकालीन भारत शुरूआती दो चरणें का गवाह रहा है। 31 दिसम्बर 1600 को महारानी एलिजाबेथ के नाम से लंदन के 218 सौदागरों के नाम जारी शाही आदेशपत्र (रॉयल चार्टर) द्वारा अंग्रेजों की ईस्ट इंडिया कंपनी की स्थापना होती है। इस चार्टर का नाम 'दि गवर्नर एंड कंपनी ऑफ मर्चेंट्स ऑफ लंदन ट्रेडिंग इन टू दि ईस्ट इंडीज' था।"लंदन के ये सारे सौदागर पूरब के व्यापार में डचों की प्रतियोगिता का मुकाबला करने के लिए एक हुए थे। इस कंपनी को पूरब के साथ इंग्लैंड के समस्त व्यापार का एकाधिकार दे दिया गया और वणिकवादी विचारों के वर्चस्व के उस काल में भी अपने व्यापार का खर्च उठाने के लिए कीमती धातुओं को देश से बाहर ले जाने की अनुमति भी दे दी गई।"[1] जाहिर है कि यह चार्टर तख्त और कंपनी दोनों के लिए परस्पर लाभकारी रहा होगा तभी इस तरह की अनुमति दी गई होगी। कंपनी को यह अधिकार दिया गया कि वह अपने बेहतर शासन के लिए आदेश, अध्यादेश, उपयुक्त नियम, उपनियम बनाए और लागू करें। इलाके जीतने और उपनिवेश बनाने की खुली अनुमति कंपनी को कभी नहीं दी गयी। जैसे-जैसे इस व्यापार से ज्यादा मुनाफा होने लगा ठीक वैसे कंपनी को

[1] शेखर बंधोपाध्याय, पलासी से विभाजन तक और उसके बाद आधुनिक भारत का इतिहास (ओरियंट ब्लैकस्वान, हैदराबाद ,2015), पृ.सं 36

अधिक सुविधाएं और रियायतें मिलने लगी। यह रॉयल चार्टर मात्र 15 वर्षों के लिए मान्य था। लेकिन पारस्परिक लाभकारी संबंधों को देखते हुए चार्टर की अवधि लगातार बढ़ायी गयी। 1624 में कंपनी को यह अधिकार मिल गया कि वह विदेश में होने वाले अपराधों की सुनवाई दे सकें। 1641 में कंपनी ने मद्रास में अपना पहला किला बनाया। कुछ साल बाद 'चार्ल्स द्वितीय' ने नया चार्टर जारी कर कंपनी को अपने किलों की किसी भी विदेशी हमले, स्थानीय विद्रोह से बचाव के लिए सेना को गठित करने, उसे प्रशिक्षित करने एवं हथियारों से लैस करने का अधिकार भी प्रदान किया गया। ''वैसे तो व्यापार को बढ़ावा देने के लिए बल का प्रयोग आरंभ से ही ईस्ट इंडिया कंपनी के कार्यकलाप का सुमान्य तत्व था; उसका व्यापार हमेशा हथियार-समर्थित व्यापार होता था।''[2] लेकिन जब सत्रहवीं सदी के गृह युद्ध ने इंग्लैंड की अर्थव्यवस्था को झकझोर कर रख दिया तब चार्ल्स द्वितीय और उसके भाई जेम्स द्वितीय ने विदेशों में आक्रामक-व्यापार नीति को और तेज किया। 'रातोंरात सौदागरों का तराजू राजदंड में बदल गया।'

''सोलहवीं सदी में आयरलैंड की विजय के बाद अंग्रेज धीरे-धीरे आयरलैंड से अमेरिका तक और भारत से अफ्रीका तक दुनिया भर में 'पिछड़े जनगणों को सभ्य बनाने के लिए जिम्मेदार नए रोमनों' की भूमिका में उभरकर आए।''[3] ब्रिटेन में ज्ञानोदय के बाद बौद्धिक वातावरण में अंग्रेजों ने स्वयं को पूरब वालों के मुकाबले आधुनिक और सभ्य भी जतलाना शुरू किया और उनकी इस धारणा ने 19वीं सदी में उनकी साम्राज्यवादी दृष्टि को एक औचित्य प्रदान किया, जब तथाकथित सुधार का युग आरंभ हुआ। ऐसा नहीं है कि भारतीय उप-महाद्वीप में सुधार के युग का आरंभ 18वीं-19वीं सदी में औपनिवेशिक शासन के दौरान शुरू हुआ। अंग्रेजों के आने से हजार वर्ष पूर्व से ही भारतीय मानस सुधारवादी प्रक्रिया से होकर गुजर रहा था। छठी-सातवीं शताब्दी में प्रारंभ भक्ति आंदोलन, दक्षिण भारत से होते हुए 18वीं सदी

[2] शेखर बंधोपाध्याय, पलासी से विभाजन तक और उसके बाद आधुनिक भारत का इतिहास (ओरियंट ब्लैकस्वान, हैदराबाद ,2015), पृ.सं 37

[3] शेखर बंधोपाध्याय, पलासी से विभाजन तक और उसके बाद आधुनिक भारत का इतिहास (ओरियंट ब्लैकस्वान, हैदराबाद ,2015), पृ.सं 68

में भी संतों के द्वारा लगातार समाज सुधार के लिए प्रयत्नशील रहा। "उत्तर प्रदेश में सतनामी संप्रदाय, अप्पापंथी और शिवनारायण संप्रदाय। बंगाल में कर्ताबाज और बलरामी, राजस्थान में चरणदासी और आंध्रप्रदेश में वीरब्रह्म चुनौती दे रहे थे। इनमें से सभी संप्रदायों ने बहुदेववाद मूर्तिपूजा और जात-पांत की निंदा की। वे समाज में समानता के आग्रही थे।...उन्नीसवीं सदी के उत्तरार्द्ध के सुधारकों की तरह चरणदास ने मूर्ति पूजा विरोध और जात-पांत विरोध के लिए वेदों के प्रमाण का सहारा लिया। उनका कहना था कि आम लोगों के लिए मैं वेदों के सत्य को सरल हिंदी में प्रस्तुत कर रहा हूँ। वे सभी प्रकार के कर्मकांडों के खिलाफ थे; यहां तक कि पूजा के लिए तुलसी की पत्तियों के उपयोग के भी। उन्नीसवीं सदी के सुधारकों की तरह इन संप्रदायों में भी व्यक्तिगत सदाचार पर बहुत जोर था। संख्या की दृष्टि से भी इन लोगों का महत्व कोई मामूली नहीं था। इनमें से अधिकांश संप्रदायों के अनुयायियों की संख्या बीस से तीस हजार तक थी।"[4] कहना न होगा कि भारतीय बौद्धिक परंपरा में विरोध एवं असहमति के तत्व हजार सालों से दिख रहे थे। इससे इतना तो साफ है कि भारतीय उप-महाद्वीप में सुधार के युग का आरंभ अंग्रेजों की देन नहीं है बल्कि अंग्रेजों और नवनिर्मित भद्रलोक ने सुधार की पूरी प्रक्रिया को बड़ी चालाकी से अपने नियंत्रण में ले लिया और भारतीय बौद्धिक परंपरा में विद्यमान विरोध तथा असहमति के तत्वों को नजरअंदाज किया और साथ ही नवजागरण एवं सुधारवादी आंदोलनों को गाढ़े रंगों से रंग दिया।

नवजागरण एवं सुधारवादी आंदोलन के आलोक में औपनिवेशिक शासन ने अपने साम्राज्यवादी तर्कों को पुष्ट किया। औपनिवेशिक भारत में शुरू हुए सुधारवादी आंदोलन की मुख्य चिंता के केन्द्र में स्त्री थी; जिसे पढ़े-लिखे भद्र वर्ग ने हाथों-हाथ लिया। सुधारवादी आंदोलन से उपजे ब्रह्म समाज, प्रार्थना समाज, आर्य समाज आदि ने स्त्री समस्या पर चिंता जाहिर की। अमानवीय सती प्रथा और बाल विवाह को कानून बनाकर रोकने की कवायद शुरू की गई तो वहीं विधवा पुनर्विवाह को प्रोत्साहित किया गया।

[4] के.एन.पणिक्कर, औपनिवेशिक भारत में सांस्कृतिक और विचारधारात्मक संघर्ष (ग्रंथ शिल्पी, दिल्ली, 2009), पृ.सं. 13-14

स्त्री शिक्षा पर जोर दिया गया। मिशनरियों एवं समाज सुधारकों ने लड़कियों को स्कूल भेजने के लिए समाज में जागरूकता पैदा करने की पुरजोर कोशिश की। उनका यह मानना था कि शिक्षा के बिना स्त्रियाँ सही और गलत का फर्क नहीं कर सकतीं। अपने पति और संबंधियों के साथ उचित व्यवहार नहीं कर सकतीं, सही रीति से बच्चों को जन्म नहीं दे सकतीं और अपेक्षा के अनुरूप घरेलू दायित्वों का निर्वाह नहीं कर सकतीं। इस पूरे विमर्श में अंतर्निहित मान्यता यह रही है कि अगर लड़कियों को स्कूल में दाखिल कराया जाता है और वे लगातार स्कूल में पढ़ती रहें तो इससे खुद-ब-खुद तो सशक्त हो जाएंगी स्कूली शिक्षा उनके जीवन के विभिन्न मोड़ों पर विकल्प मुहैया करायेगी और उनका अपनी जिंदगी के फैसलों पर ज्यादा नियंत्रण होगा। इसमें दो राय नहीं कि स्कूली शिक्षा अपार असीम संभावनाओं के द्वार खोलती है, लेकिन शिक्षा जादुई ढंग से हमेशा लड़कियों को नई भूमिकाओं के लिए तैयार नहीं कर पाती। दूसरे संस्थानों की तरह स्कूली शिक्षा भी स्थापित सामाजिक-सांस्कृतिक मूल्यों और कायदों की पुनर्रचना करती रहती है। इस तरह मौजूदा सत्ता संबंधों को यह बरकरार रखती है। अत: जब हम प्रस्तुत अध्याय में औपनिवेशिक भारतीय समाज में स्त्रियों की सामाजिक और रचनात्मक उपस्थिति के विभिन्न आयामों की पड़ताल करेंगे तब यह जानना जरूरी हो जाएगा कि भारतीय समाज व्यवस्था में स्त्रियाँ किस जगह पर काबिज हैं एवं उनकी सामाजिक हैसियत क्या है।

सोपानी सामाजिक व्यवस्था में स्त्री

भारतीय उपमहाद्वीप में जहाँ पुरुषों की प्राथमिक पहचान उसकी सामाजिक हैसियत है तो वहीं स्त्रियों की प्राथमिक पहचान को उसके लिंग से जोड़कर देखा जाता है। इससे इतना तो तय है कि सोपानी सामाजिक व्यवस्था में स्त्रियों का स्थान सबसे निचला है। अक्सर इतिहासकार शिक्षाविद् और चिंतक अपने देश के सांस्कृतिक मोह से ग्रस्त होकर निचले पायदान वाली अवधारणा को सिरे से खारिज करने के लिए प्रयत्नशील रहते हैं। इसी वजह से सैंधवकालीन समाज को मातृसत्तात्मक समाज कहा जाता है।

वैदिककालीन समाज में रोमशा, लोपामुद्रा, अपाला, घोषा आदि की खोज होती है। स्मृतियुगीन समाज को दिखाने के लिए मनुस्मृति के एक वाक्य 'यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते रमन्ते तत्र देवताः' को बड़ी चालाकी से पूरे समाज के प्रतिनिधि वाक्य के तौर पर रखते हैं। साथ ही इसके बाद के समाज को विदेशी आक्रमण के परिप्रेक्ष्य में देखते हुए, इस्लाम और पर्दा प्रथा को स्त्रियों की व्यक्तिगत स्वतंत्रता पर किया गया सबसे पहला वार मानते हुए भारतीय समाज व्यवस्था को नीतिसंगत ठहराते हैं। लेकिन आज जब लगातार तथ्यान्वेषण हो रहा है तो इन तमाम तरह के किए गए दावों की कलई खुलती नजर आ रही है।

अगर विस्तार से बात करें तो पाते हैं कि आदिम सभ्यता के बाद मानव सभ्यता का बढ़ा हर अगला कदम स्त्रियों को एक कदम पीछे ढकेलता आया है। आदिम समाज में स्त्रियों को कबीले की जीवनदायिनी शक्ति माना जाता था। परिवार में उसे प्राथमिकता प्राप्त थी। प्राय: वंश का नाम माँ के नाम से चलता था। सामूहिक संपत्ति का स्वामित्व भी स्त्री के पास था। वह अपने बच्चों के माध्यम से इस संपत्ति की रक्षा करती थी। औरत की तुलना धरती से की गई। वह धरती की तरह उर्वरा थी, जीवन-धात्री भी। आदिम समाज व्यवस्था में औरत का जीवन-धात्री होना ही उसे विशिष्ट स्थान प्रदान करता था। ''स्त्री-पुरुष के रज और वीर्य के मिलने की प्रक्रियाओं के बारे में सभ्यता के आदिकाल से ही नाना प्रकार के ख्यालों और विश्वासों को सामने रखा है। प्रारंभ में इन विचारों का कोई वैज्ञानिक आधार नहीं था। ये केवल परावर्तित सामाजिक मिथक थे। आदिम मातृसत्तात्मक समाज में गर्भ धारण में पिता की कोई विशिष्ट भूमिका नहीं मानी जाती थी, बल्कि यह सोचा जाता था कि पूर्वजों की आत्मा जीवित बीज के रूप में मातृ गर्भ में प्रवेश कर जाती है।''[5] स्त्री की यही विशिष्ट भूमिका समाज में उसे विशिष्ट स्थान प्रदान करती था। प्रागैतिहासिक यायावर मानव ने औरत को गुलाम नहीं बनाया था। प्रागैतिहासिक यायावर मानव समाज पर बात करते हुए 'सिमोन द बोउवार' लिखती हैं कि- ''प्रागैतिहासिक यायावर मानव समाज में शारीरिक कमजोरी के बाजवूद औरत पुरुष की इतनी अधीनस्थ नहीं थी कि वह गुलाम

[5] सीमोन द बोउवार, स्त्री-उपेक्षिता ,अनुवादक-प्रभा खेतान (हिंदी पॉकेट बुक्स, दिल्ली, 1998), पृ.सं. 33

कहलाये। उन दिनों पुरुष के सम्मुख स्त्री को समर्पण के लिए विवश करने वाली न कोई संस्थागत, न व्यक्तिगत संपत्ति की अवधारणा और न कोई न्याय व्यवस्था ही थी। धर्म अकर्मक था, पूजा एक सैक्सुअल टोटम।''[6] लेकिन सभ्यता के विकास के साथ-साथ एक ओर जहाँ पुरुष को अपनी शक्ति, गति और जीवन का भान हुआ, पुरुष को यह पता चला कि माँ अपने गर्भ में उस जीवित भ्रूण का केवल भरण-पोषण करती है, जो पिता के द्वारा ही आरोपित है वहीं दूसरी ओर यायावर मानव कृषक जीवन में प्रवेश करता है। जैसा कि सुविदित है, एक खेतिहर समाज उपजाऊपन से जुड़े अपने पंथों और कर्मकांडों का विकास करता है। यह पंथ धीरे-धीरे विकास करके एक अस्पष्ट की जगह एक ठोस रूप ग्रहण कर लेते हैं। यथा फलां देवता की पूजा से अच्छी बारिश होगी अथवा फलां देवता हमारे पशु धन, धन धान्य की रक्षा करेंगे आदि मान्यता खेतिहर समाज में खूब फलती फूलती है। कहने का आशय यह है कि कृषक जीवन में प्रवेश के साथ ही धर्म सकर्मक हो उठता है। धर्म के सक्रिय होते ही कई तरह की संस्थाएं और कानून बनते हैं और पितृसत्ता मजबूत होती है।

फिर भी ऐसा कतई नहीं समझना चाहिए कि कबीलाई समाज, यायावरी समाज की अपनी कोई विशेष संस्था नहीं होती। जिस तरह विकसित औद्योगिक समाज ने कुछ आदतों को एक जीवन शैली को विकसित किया है, ठीक उसी तरह घुमक्कड़ समाज भी अपनी खुद की संस्थाओं आदतों और संस्कृति का विकास करता है। घुमक्कड़ समाज की संस्कृति को 'कबीलाई मानववाद' कहा जाता है। इसमें पूरा जोर इंसान की उम्दगी और कबीले की शान पर होता था। उनकी अपनी नैतिकता थी और अपने मूल्य थे। कबीलाई सामूहिकता एक अलिखित आचरण-विधान होती थी, मगर सख्ती से उसका पालन किया जाता था। एक कबीलाई समाज मे व्यक्तिवाद का कोई मूल्य नहीं होता, सामूहिकता का राज होता है। उनके अनुसार जीवन का अर्थ मनुष्य के उत्कृष्ट गुणों को व्यक्त करना है। कहने का आशय यह है कि

[6] सीमोन द बोउवार, स्त्री-उपेक्षिता ,अनुवादक-प्रभा खेतान (हिंदी पॉकेट बुक्स, दिल्ली, 1998), पृ.सं. 51

कबीलाई नैतिकता ने समाज में पितृसत्ता और व्यक्तिवाद को हावी होने नहीं दिया लेकिन इसका ये मतलब नहीं है कि समाज मातृसत्तात्मक था।

मातृसत्तात्मक समाज वास्तव में एक मिथक है। कबीलाशाही के साथ मातृसत्ता का मिथ टूटता है और धीरे-धीरे पितृसत्ता कायम होने लगता है। चूंकि कबीलाशाही में संसाधनों और संपत्ति पर कबीला का मुखिया या पुरुष का अधिकार होता था अत: कबीलाशाही के साथ एक ऐसा ढांचा बन रहा था जिसकी सत्ता योग्य पुरुष के हाथ रहे। 'सिमोन द बोउवार' के अनुसार ''समाज हमेशा से पुरुष रहा है, राजनैतिक सत्ता हमेशा से पुरुष के हाथ रही है।''[7] वाकई में समाज हमेशा से पुरुष प्रधान रहा है। प्रागैतिहासिक यायावर समाज अज्ञानता और भ्रमवश माँ की विशिष्ट भूमिका के कारण स्त्री को पूजता रहा तो वहीं संसाधनों के अभाव में, कठिन परिस्थितियों में, जीवन यापन के लिए कबीलाई समाज और शुरूआती कृषक समाज स्त्री की उर्वरा की देवी और मातृ शक्ति के रूप में पूजता रहा। सभ्यता के शुरूआती चरण में जब चाक और पहिए की भी खोज नहीं हुई थी। जब मानव श्रम ही सर्वोपरि था। जब मानव संसाधन ही एकमात्र संसाधन, जब कबीले के सदस्यों की संख्या उसकी ताकत हुआ करती थी। जब जीवन यापन के लिए, युद्ध में विजय होने के लिए और कृषि के लिए भरपूर मानव-संसाधन की आवश्यकता थी तब समाज में स्त्री का स्थान एक शक्तिशाली नस्ल के उद्गम स्रोत के रूप में होने के कारण विशिष्ट था। इस संदर्भ में 'ए.एस.अल्तेकर' के मत को देखा जा सकता है- ''महिलाओं में लड़ाकू क्षमता का अभाव होता है, लेकिन उनके भीतर संभावित सैन्य क्षमता होती है। बेटों को जन्म देने के जरिए वह अप्रत्यक्ष रूप से अपने समुदाय की युद्ध क्षमता और कार्यकुशलता में ही इजाफा करती हैं।''[8] लेकिन सभ्यता के विकास के साथ संसाधनों का विकास हुआ जो काम अभी तक दस मनुष्य मिलकर कर रहे थे अब उस काम में दो या एक आदमी की ही जरूरत थी। अभी तक उतना ही उत्पादन हो पाता था जिससे

---

[7] सीमोन द बोउवार, स्त्री-उपेक्षिता ,अनुवादक-प्रभा खेतान (हिंदी पॉकेट बुक्स, दिल्ली, 1998), पृ.सं. 52

[8] सं. साधना आर्य,निवेदिता मेनन,जिनी लोकनीता, नारीवादी राजनीति संघर्ष एवं मुद्दे (हिंदी माध्यम कार्यान्वय निदेशालय, दिल्ली, 2006), पृ.सं. 132

कबीले के सदस्यों का पेट किसी तरह भर पाता था लेकिन अब उत्पादन दर में वृद्धि हुई। अब धन संचय भी होने लगा। विनिमय के द्वारा व्यापार होने लगा। समृद्धता बढ़ी। मनुष्य अब भोजन, कपड़ा, मकान की जद्दोजहद से ऊपर उठकर लाभ-लोभ की भोगवादी संस्कृति की ओर बढ़ने लगा। इस भोगवादी संस्कृति का नीति-नियंता हमेशा से पुरुष रहा है। उसने स्त्रियों को आभूषण से सजाया। उसने धर्म से गठजोड़ कर कई ऐसे विधान बनाए, जिससे स्त्रियों की चेतना को अवरूद्ध किया जा सके।

मानव सभ्यता का पहला व्यवस्थित रूप सिंधु सभ्यता में दिखाई पड़ता है। यह एक नगरीय सभ्यता है जो बेहद ही विकसित रूप में हमारे सामने आती है। हमारे इतिहासविद् सैंधवकालीन समाज को मातृसत्तात्मक समाज कहते हैं। इसके पीछे यह तर्क देते हैं कि चूंकि उस समाज के लोगों ने बहुतायत में मातृदेवी की मृण्यमूर्तियां बनायी है। अत: इससे यह बात पुष्ट होती है कि समाज में माता का स्थान सबसे ऊँचा रहा होगा। मृण्यमूर्तियों की संख्या के हिसाब से किसी समाज को मातृसत्तात्मक कहना कहाँ तक न्यायसंगत होगा ? हाल के वर्षों में हुए शोध के आधार पर सीमा बाउवा, पारूल पांड्याधर सरीखे कुछ कला इतिहासविद् इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि सैंधवकालीन समाज किसी भी तरह से मातृसत्तात्मक समाज नहीं था। वैसे भी स्त्रियों की मूर्ति का ज्यादा से ज्यादा संख्या में बनाया जाना सामाजिक अध्ययन से ज्यादा मनोवैज्ञानिक अध्ययन का विषय है। जिस समाज में नर्तकी की मूर्ति, छह लड़ी के सोने का आभूषण, लिपिस्टिक, मनके, केश सज्जा आदि का भी साक्ष्य मिला हो। उस समाज को सिर्फ मृण्यमूर्ति की संख्या के आधार पर नामकरण करना कहाँ तक उचित होगा? ऊपर वर्णित सामग्री समाज की भोगवादी संस्कृति की ओर भी इशारा कर रहे है और अक्सर देखा जाता है कि भोगवादी संस्कृति में स्त्री को भोग की वस्तु के रूप में ही देखा जाता है। तो फिर सैंधवकालीन समाज को मातृसत्तात्मक पद से अभिहित क्यों किया गया? सैंधवकालीन समाज का विश्लेषण बहुत हद तक हमारे इतिहास लेखन और तत्कालीन परिस्थितियों से प्रभावित है। जिस समय सिंधु सभ्यता पर एक मुकम्मल दृष्टि बनायी जा रही थी, उस समय साम्राज्यवादी इतिहास लेखन भारतीय समाज को असभ्य और बर्बर

कह भारत की सभ्यता और संस्कृति को निरंकुशता पर आधारित मानते थे। पूर्वाग्रह से ग्रसित साम्राज्यवादी इतिहास लेखन का प्रतिरोध होना तय था राष्ट्रवादियों ने प्रतिरोध किया भी और कई जगहों पर अतिवाद का शिकार हुए। राष्ट्रवादी इतिहास लेखक 'के.पी. जायसवाल' और 'ए.एस.अल्तेकर' हिन्दू समाज को राष्ट्रवादी दृष्टि से देख रहे थे। इस दृष्टि ने भी बहुत दूर तक सिंधु सभ्यता के समाज को देखने के लिए विशेष नजरिया प्रदान किया। जब 20वीं सदी की शुरूआत में सिंधु सभ्यता जैसी महान नगरीय सभ्यता की खोज हुई तो इतिहासविदों और लेखकों ने जल्दबाजी में मृण्यमूर्तियों के आधार पर मातृसत्तात्मक समाज की घोषणा कर दी। इस तरह की घोषणा के पीछे सांस्कृतिक मोह तो था ही साथ ही अपने को ऊँचा दिखाने का दंभ भी था। इससे उन्हें इस बात का गर्व भी महसूस होता था कि हमारी संस्कृति में माता का स्थान ऊँचा रहा है। अब धीर-धीरे सैंधव समाज का यह मिथक टूट रहा है।

वैदिककालीन समाज की बात करें तो पाते हैं कि अक्सर भारतीय मानस वैदिककालीन समाज की ओर आशा भरी नजर से देखता है। प्रारंभिक भारतीय इतिहास में स्त्रियों की स्थिति कैसी थी?? इस विषय पर होने वाली चर्चाओं को लेखन,अध्यापन और अध्ययन में एक अजीबोगरीब नजरिया देखने को मिलता है। यह एक सामान्य समझ भारतीय मानस में गहरी जड़ें जमा चुका है कि अतीत में महिलाओं की स्थिति काफी बेहतर थी। ऋग्वेद में रोमशा, लोपामुद्रा, श्रद्धा कामायनी, यमी वैवस्वती, पौलोमी शची, विश्वतारा, अपाला, घोषा, सूर्या, शाश्वती, ममता एवं उशिज आदि ब्रह्मवादिनी स्त्री का नाम मंत्र-द्रष्टा के रूप में प्राप्त होता है। ये ब्रह्मवादिनी स्त्री वेद का संदेश पहुंचाने वाली स्तुति पाठिका होती थी जो निश्चिंतता से शास्त्रार्थ करती हुई दिग्भ्रमण करती थीं। इस संदर्भ में घोषा की घोषणा देखी जा सकती है -

''युवां ह घोषा पर्यश्विना यतो राज्ञ ऊचे दुहिता पुच्छे वा नरा।

भूतं ये अहन् उत भूतमत्तवे श्वायते रथिने शक्तमर्वते।

अर्थात् मैं, राजकन्या घोषा, सर्वत्र वेद की घोषणा करने वाली, वेद का संदेश सर्वत्र पहुंचाने वाली स्तुति-पाठिका हूँ। हे देव, मैं सर्वत्र आपका ही यशोगान करती हूँ और विद्वानों से आपकी ही चर्चा करती

हूँ। आप सदा मेरे पास रहकर मेरे इन इंद्रिय रूपी अश्वों से युक्त शरीर-रूपी रथ के साथ मेरे मनरूपी अश्व का दमन करें।"[9]

घोषा की इस घोषणा से यह बात तो साबित होती है कि प्राचीन भारतीय समाज में ब्रह्मवादिनी स्त्रियाँ भी थीं जो पुरुष के समकक्ष बैठकर वाद-विवाद-संवाद में हिस्सा ले सकती है। लेकिन यहां महत्वपूर्ण यह है कि इस तरह की स्त्रियों की संख्या कितनी थी? महिला मनीषियों का प्रतिनिधित्व कितना था? क्या वो कोई महत्वपूर्ण निर्णय ले सकती थी? क्या किसी पुरुष से वो शास्त्रार्थ में जीत सकती थीं? इन सारे सवालों पर अगर हम ध्यान दें तो हम पाते हैं कि इस तरह की स्त्रियों की संख्या गिनती में 15 से 20 होगी। इस आधार पर महिला- मनीषियों का प्रतिनिधित्व एक प्रतिशत से भी कम है। जहाँ तक महत्वपूर्ण निर्णय की बात है, नियम और कानून की बात है तो ये सर्वविदित है कि सारे नियम-कानून पुरुष द्वारा ही बनाये जाते हैं और पुरुष ही उसे संचालित करता है। उस समाज की वो ब्रह्मवादिनी स्त्रियाँ वेद का संदेश पहुँचाने वाली सिर्फ संदेशवाहक थीं। वे वेद या धर्म के किसी सिद्धांत के खिलाफ नहीं जा सकती थीं। हो सकता है कि कुछ स्त्रियों ने खिलाफत की हो। अगर वाकई में प्राचीन भारतीय समाज में स्त्रियों को स्वच्छंद सोचने समझने, विचार करने की आजादी मिली होगी तो ये संभव है कि कुछ स्त्रियों ने, महिला मनीषियों ने पितृसत्ता के ढांचे को अपने स्तर पर तोड़ने की कोशिश की हो। ऐसा अनुमान इसलिए लगाया जा सकता है कि कुछ शताब्दी बाद बुद्ध की थेरियां जिस तरह से पितृसत्ता को नकार रही है, वह स्वत:स्फूर्त नहीं है। इस तरह की चेतना का निर्माण यकायक नहीं होता। बौद्ध धर्म ने थेरी की गाथाओं को अपने धर्मग्रंथों में संकलित किया। बहुत संभव है हिन्दू धर्म ग्रंथ ने विरोध की भाषा को कोई जगह न दिया हो। कहने का आशय यह है कि इतिहास में जगह उसे ही मिली जो उस समाज में उसी समाज की भाषा बोलता हो। धर्मग्रंथों में जगह न मिल पाने के कारण आज यह कोरी कल्पना है। बस हम अनुमान लगा सकते हैं।

---

[9] अनामिका, स्त्रीत्व का मानचित्र (सारांश प्रकाशन, हैदराबाद, 2001), पृ.सं. 25

बहरहाल, हम आखिरी सवाल पर आते हैं। शास्त्रार्थ, वाद-विवाद-संवाद में स्त्री पुरुष से प्रश्न तो पूछ सकती थी लेकिन पितृसत्ता के खिलाफ नहीं जा सकती थी और ना ही पितृसत्ता पर विजय ही प्राप्त कर सकती थी। जिसका सबसे बढ़िया उदाहरण है 'गार्गी-याज्ञवल्क्य शास्त्रार्थ'। तो फिर सवाल उठता है कि इन परिस्थितियों में स्त्रियों की स्थिति को हम बेहतर क्यों कहें? क्या सिर्फ उच्चकुलीन ब्रह्मवादिनी स्त्रियाँ ही पूरे समाज का प्रतिनिधित्व कर रही थीं? क्या सिर्फ गिनी-चुनी ब्रह्मवादिनी स्त्रियों के आधार पर हम नारी शक्ति की परिकल्पना कर सकते हैं? - नहीं, कतई नहीं। तो फिर ऐसी कौन-सी अवधारणा है, जो प्राचीन भारतीय समाज में स्त्रियों की स्थिति को बेहतर बताती है? राष्ट्रवादी विचारधारा के तले जब हम इस प्रश्न की गहराई से पड़ताल करते हैं तो पाते हैं कि औपनिवेशिक भारत में इस तरह की अवधारणा फल-फूल रही थी। जिस दौरान हिन्दू सामाजिक संस्थाओं पर 'पश्चिमी शिक्षा और पश्चिमी मूल्यों को ग्रहण करती जा रही पीढ़ी' की तरफ से तीखा प्रहार किया जा रहा था, ठीक उसी समय सांस्कृतिक मोह से ग्रस्त कुछ राष्ट्रवादी विद्वानों ने यह सिद्ध करने के लिए एड़ी-चोटी का जोर लगा दिया था कि अतीत में महिलाओं की स्थिति काफी बेहतर थी। स्त्रियों की स्थिति में आई गिरावट को महज तात्कालिक भटकाव कहकर, उन्हें आसानी से समाप्त कर दिए जाने की दलील भी दी जा रही थी। उनके मुताबिक वैदिक काल के बाद एक गिरावट आने लगी जो विदेशी आक्रमणकारियों खासकर के इस्लाम के आक्रमण के साथ चरम पर जा पहुँची। दरअसल इस तरह के विश्लेषण के पीछे दो देशों का सांस्कृतिक टकराव महत्वपूर्ण भूमिका निभा रहा था, जिसकी सटीक व्याख्या 'उमा चक्रवर्ती' ने अल्टेकेरियन अवधारणा पर बात करते हुए लिखा है कि--

''उन्नीसवीं सदी में भारत और इंग्लैंड के बीच सांस्कृतिक टकराव के संदर्भ में राष्ट्रवादी इतिहास लेखन की शुरूआत हुई थी। इसी टकराव ने प्रारंभिक भारत में महिलाओं की स्थिति पर लेखन की दिशा निर्धारित की थी। इस समूचे सांस्कृतिक टकराव के दरमियान हिंदू स्त्री और पश्चिमी स्त्री के बीच जिस प्रकार तुलना की जा रही थी उससे हिन्दू श्रेष्ठता की भावना को गहरी चोट पहुँचती थी। यह आघात इतना

तीखा था कि परिणामस्वरूप अक्सर विसेंट स्मिथ सिंड्रोम जैसी प्रतिक्रिया को जन्म देता था। विंसेंट स्मिथ की आम राय यही थी कि जो कुछ भी भारतीय है वह खराब और निकृष्ट है। यदि उसे भारतीय संस्कृति में कोई भी ऐसी चीज दिखाई देती थी जिसे नकारा नहीं जा सकता था या जिसकी कोई भी कीमत थी तो उसे वह ग्रीक प्रभाव की देन घोषित कर देता था। प्राचीन भारत में महिलाओं की स्थिति पर लिखने वाले इतिहासकारों ने इसी तर्क को उलटा करके भारतीय संस्कृति की श्रेष्ठता को साबित करने के लिए तर्क देना शुरू कर दिया कि तीन हजार साल पहले भारत में महिलाओं को जैसा सम्मानजनक दर्जा दिया जाता था वैसा सम्मान उन्हें दुनिया भर में कहीं भी नहीं दिया गया है। ग्रीस और रोम के साथ तुलना के संदर्भ में उनकी लेखनी विशेष रूप से प्रखर हो उठती थी, जैसा कि निम्नलिखित उद्धरण से समझा जा सकता है- ‘‘प्राचीन हिन्दू साहित्य का अध्ययन करने वाले भारत के उन इतिहासकारों को यह मानने में कोई कठिनाई नहीं होगी कि ग्रीस और रोम के सबसे सुंदर दिनों में भी महिलाओं को वैसा सम्मान प्राप्त नहीं था जैसा तीन हजार साल पहले के भारत में था।

इसी प्रकार अल्टेकर ने प्राचीन ग्रीस, रोम और फिलिस्तीन में महिलाओं की स्थिति का अध्ययन करने के बाद जोर देकर कहा है कि वैदिक काल के दौरान सभ्यता के उषाकाल में महिलाओं की स्थिति इनसे कहीं बेहतर थी।’’[10]

इस प्रकार हम पाते हैं कि प्रतिक्रियावादी ग्रंथि ने, प्राचीन भारत में महिलाओं की स्थिति की सही-सही व्याख्या करने में अवरोध उत्पन्न किया या फिर जानबूझकर आम जनमानस से इस तरह का बौद्धिक छल किया गया। वैदिक कालीन समाज में स्त्रियों की स्थिति की बात करें तो हम देखते हैं कि वैदिक काल में कृषि के विकास के साथ-साथ कर्मकांड औ बाह्याडम्बरों का विकास हुआ। धर्मतंत्र मजबूत हुआ और कई तरह की संस्थाओं का निर्माण हुआ। इन संस्थाओं ने पितृसत्ता के ढांचे को मजबूत बनाया। मजबूत

[10] सं. साधना आर्य,निवेदिता मेनन,जिनी लोकनीता, नारीवादी राजनीति संघर्ष एवं मुद्दे (हिंदी माध्यम कार्यान्वय निदेशालय, दिल्ली, 2006), पृ.सं. 130

पितृसत्ता धर्मतंत्र से गठजोड़ कर अपनी भोगवादी लिप्सा को शांत करने के लिए भीषण योनि-शोषण की ओर प्रवृत्त होता है। 'प्रो. तुलसीराम' इसे 'धर्म सम्मत यौन शोषण' कहते हुए वैदिक समाज का एक विशेष पहलू हमारे सामने रखते हैं-''इस तरह हम देखते हैं कि जिन वेदों के मंत्रों को मिथक तथा अंधविश्वास फैलाकर 'आज की वैदिक सेना' इतना पवित्र एवं रहस्यवादी बताती है, वे वैसे कतई नहीं हैं, बल्कि इस लेख में वर्णित उन्हीं मंत्रों में से जो थोड़े मंत्र उद्धृत किये गये उनसे इन वैदिक पाखंडियों का पर्दाफाश अच्छी तरह हो जाता है। वैदिक परंपराओं के ही चलते भारत में धर्म के नाम पर देवदासी प्रथा जैसी वेश्यावृत्ति तथा प्रतिम यौन-दुराचार की नींव पड़ी। भीषण योनि-शोषण वैदिक नैतिकता का अभिन्न अंग है, क्योंकि कर्मकांडों में हवनकुंड को योनि तथा पुरुष लिंग को हवि (लकड़ी, घृत आदि) माना गया है। ऐसी मान्यताओं पर आधारित एक ऋग्वैदिक फार्मूला प्रस्तुत है -

तां पूषंछिवतमा मेरयस्व बीजं मनुष्या एवपंति।

या न ऊरू उशती विश्रायते तस्यामुशंत: प्रहराम शेवम्।।

अर्थात् पूसा (एक देव) की वंदना करते हुए पुरुष कहता है कि उस नारी को कामातुर करके भेजो, ताकि वह हमारी जंघाओं की कल्पना करती हुई अपनी जंघाओं को फैलाए और हम उसके जननांग पर अपने प्रजननांग से प्रहार करें। वैदिक आर्य ने पुत्र प्राप्ति या अपनी आबादी की वृद्धि के लिए यौनाचार को यज्ञों से जोड़ दिया था। इसके लिए आर्य यज्ञ स्थल पर ही अनगिनत स्त्रियों के साथ सामूहिक संभोग में मस्त हो जाते थे। ...एतरेय ब्राह्मण नामक ग्रंथ के अनुसार एक प्रचलित कर्मकांड का नाम 'सोम कर्मकांड' था, जिसके तहत संभोग करना आवश्यक अंग था। ...ऐसा ही वर्णन 'कौस्तिकी ब्राह्मण' नामक ग्रंथ में भी किया गया है। इन्हीं ब्राह्मण ग्रंथों में स्त्री को हवनकुंड अग्नि माना गया है तथा उसकी योनि को ईंधन तथा पुरुष के लिंग प्रवेश द्वारा संपन्न संभोग को अग्नि, ज्वाला, चिंगारी आदि माना गया है।''[11] हम देखते हैं कि धर्म सम्मत यौन शोषण महिलाओं पर थोपा जा रहा था। वैदिक समाज में स्त्रियों को देह के

[11] सं उत्तम कुमार, दक्षिण कोशल (वर्ष-2 ,अंक-6, राजनांदगांव , मार्च 2013), पृ.सं. 23

उसी दायरे में देखा जा रहा था जिस दायरे में आज भी देखा जा रहा है। कर्मकांड के नाम पर भीषण देह शोषण किया जा रहा था। वैदिक आर्यों ने पुत्र प्राप्ति या अपनी आबादी की वृद्धि के लिए यौनाचार को यज्ञों से जोड़ दिया था जो आगे चलकर कर्मकांडों तथा तंत्र साधना में काम विकृति का रूप ले लिया। इस विकृति ने समाज को प्रभावित तो किया ही साथ ही स्त्रियों का लगातार शोषण भी किया। धीरे-धीरे पितृसत्ता और भी आक्रामक होती गयी। ‘‘जैविक रूप से नर के स्वभाव में अतिक्रमण की ऐसी क्षमता होती है, जिससे उसके व्यक्तित्व का निर्माण होता है।’’[12] नर के इस स्वभाव ने औरत की सारी स्वतंत्रता को छीनकर उसे अपने ही घर में कैद किया।

‘‘स्त्री की रक्षा बचपन में पिता करता है, युवावस्था में पति करता है और वृद्धावस्था में पुत्र करते हैं, स्त्री स्वतंत्र रहने के योग्य नहीं है।’’[13] मनुस्मृति का यह कथन पितृसत्ता की मंशा को दिखाता है। यह वही मनुस्मृति है जिसके एक वाक्य ‘यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते रमन्ते तत्र देवताः’ को ब्रह्म वाक्य की तरह लिया जाता है। औपनिवेशिक भारत के अधिकांश विचारकों ने इसी वाक्य के आलोक में स्त्रियों की दशा एवं दिशा को निर्धारित किया।(अभी भी कई विचारक इसी वाक्य के अलोक में स्त्री विषयक चर्चा शुरू करते हैं) लेकिन इसी औपनिवेशिक भारत में पंडिता रमाबाई ने ‘‘धर्म व समाज में स्त्रियों का स्थान’’ पर चर्चा करते हुए ब्राह्मण धर्म की पोल खोल कर रख दी है। पंडिता रमाबाई के लेख के अध्ययन से यह साबित हो जाता है कि ब्राह्मणों ने स्त्रियों को सुनियोजित ढंग से गुलाम बनाया, स्त्रियों की स्वतंत्रता को छीना। तब सवाल उठता है कि उन्नीसवीं सदी के तमाम हिंदू विचारक इस बात पर क्यों अडिग थे कि स्त्रियों की स्थिति में आयी गिरावट विदेशी आक्रमणों की देन है? सारा दोषारोपण इस्लाम पर ऐसा क्यों? स्त्रियों के उत्पीड़न की ऐतिहासिक व्याख्या करने में आर्य समाजियों का विश्लेषण इस्लाम के आक्रमण और पर्दा प्रथा की शुरूआत से आगे नहीं जाता - मानो यह सारी समस्या सिर्फ पर्दे से शुरू होकर उसी पर खत्म हो

[12] सीमोन द बोउवार, स्त्री-उपेक्षिता ,अनुवादक-प्रभा खेतान (हिंदी पॉकेट बुक्स, दिल्ली, 1998), पृ.सं.34
[13] सं. रंजीत अभिज्ञान, पूर्वा भारद्वाज, जेंडर और शिक्षा रीडर भाग-1 (निरंतर, दिल्ली, 2010), पृ.सं.122

जाती थी, मानो स्त्रियों का उत्पीड़न सिर्फ इस्लामी जगत की ही विशेषता है। इस गुत्थी को सुलझाने के लिए हमें औपनिवेशिक भारतीय समाज के उस राजनीति को समझना होगा, जिसमें अपने अधिकारों और विशेषाधिकारों को लेकर हिन्दू भद्रवर्ग और मुस्लिम भद्रवर्ग एक दूसरे के प्रतिद्वंद्वी बने बैठे थे। हमें इतिहास की उस राजनीति को भी समझना होगा जिसमें इतिहास कथन की विशेष शैली का प्रयोग करते हुए आर्यों के आगमन को 'आगमन' और इस्लाम के आगमन को 'आक्रमण' कहता है। दरअसल स्त्रियों की स्थिति के संदर्भ में इस्लामी आक्रमण का कन्सेप्ट प्रतिक्रियावादी है, जिसका प्रयोग उस समय राजनैतिक एवं सांप्रदायिक औजार के रूप में किया गया और आज भी किया जा रहा है।

इस्लाम के आगमन से पूर्व वैदिक काल में स्त्रियों की क्या स्थिति थी इससे हम अवगत हो ही गये हैं। स्मृतियुगीन समाज का दस्तावेज मनुस्मृति बार-बार स्त्रियों की व्यक्तिगत स्वतंत्रता को छीनने की घोषणा करता है। तब फिर यह कहना कहाँ तक उचित होगा कि पर्दा प्रथा के जरिए सबसे पहले स्त्रियों की व्यक्तिगत स्वतंत्रता पर वार किया गया। तमाम ब्राह्मण ग्रथों एवं इतिहास के अध्ययन से बाल विवाह, बहु विवाह जैसी कुरीतियों का जिक्र सुरीतियों की तरह मिल जाएगा। सती प्रथा का प्रथम ऐतिहासिक साक्ष्य 510 ई. के 'एरण अभिलेख' में मिलता है जो गुप्तयुगीन शासक 'भानुगुप्त' का है। इस्लाम की बात करें तो 510 ई. के आस-पास आक्रमण की बात तो छोड़िए इस्लाम धर्म के संस्थापक पैगम्बर मुहम्मद साहब का जन्म भी नहीं हुआ था। अन्य विदेशी आक्रमणों की बात करें तो हम पाते हैं कि ये विदेशी शासक भारतीय उपमहाद्वीप में व्यापार के उद्देश्य से आये थे। इतिहासकार भी इस बात की पुष्टि करते हैं कि इस समय भारतीय उपमहाद्वीप में आंतरिक और बाह्य व्यापार की उन्नति की वजह से भारतवर्ष स्वर्ण युग से होकर गुजर रहा था। इस समय में छिटपुट हूण आक्रमण जरूर हुए थे लेकिन हूणों ने कभी भारतीय संस्कृति को इतना प्रभावित नहीं किया।(इतिहासकारों का यह मानना है कि बाद में ये हूण भारतीय संस्कृति में घुल मिल राजपूत भी बने) खैर! हम थोड़ा पीछे लौटकर वैदिक कालीन समाज में झांकने की कोशिश करते हैं। जिस अथर्ववेद संहिता की 'पुष्टि सूक्त' के तृतीय मंत्र से वैदिक काल में सती प्रथा के

अस्तित्व न होने और विधवा विवाह के प्रावधान का इशारा करते हुए जो फूले नहीं समाते हैं वे इस मंत्र को फिर से देखें-

"अपश्यं युवतिं नीयमानां जीवां मृतेभ्य: परिणीयमानम्

अन्धेन यत्रसमा प्राकृतासीत्प्रोक्तो अपाचीवमवयं तदेनाम्"[14]

अर्थात् मृतक पति के साथ लेटी स्त्री को देखने के बाद मैंने उसे वहां से हटाया जो शोक रूपी घनान्धकार से आवृत्त थी। यहाँ युवती को चीता से हटाया जाना जितना महत्वपूर्ण है उससे ज्यादा महत्वपूर्ण यह सवाल है कि युवती पति के साथ चिता पर क्यों लेटी? युवती द्वारा इस तरह के कदम उठाये जाने के पीछे किसका हाथ है? युवती की चेतना का निर्माण किस ढंग से हो रहा है और कौन इसका जिम्मेदार है? यही चेतना आगे 'सम्राट हर्षवर्धन' की बहन 'राज्यश्री' में भी दिखती है। बाल विधवा 'राज्यश्री' का सती होने का निर्णय सातवीं शताब्दी के समाज को प्रश्नांकित करता है। आखिर वे कौन से कारक हैं जो राज्यदुहिता को सती होने के लिए प्रेरित करता है? ये विस्तृत शोध का विषय है लेकिन यहां पर मैं इसका एक पहलू रखते हुए इतना कह देना चाहूंगा कि इसके मूल में अर्थ है। प्राचीन काल से स्त्रियों का संपत्ति पर कोई नियंत्रण नहीं था। इसलिए पति की मृत्यु के बाद सामाजिक, आर्थिक दबाव के बीच निराश्रित होकर अभिशप्त जीवन जीने से बेहतर मृत्यु का वरण करती थीं। जब हर्षवर्धन अपनी बहन को गद्दी पर बैठाकर खुद संरक्षक होने की बात करता है तो राज्यश्री चिता से उठ जाती है। बहरहाल मेरे कहने का आशय यह है कि इस्लाम के आगमन से पूर्व भी भारतीय उपमहाद्वीप में स्त्रियों की स्थिति बेहद ही शोचनीय थी। इस्लामी संस्कृति के आगमन से स्त्रियों की स्थिति में और भी गिरावट दर्ज की गयी। रक्त की शुद्धता एवं श्रेष्ठता का आग्रही आर्य संस्कृति में स्त्रियों पर कई तरह की पाबंदियां लगायी गयीं। कालांतर में इस्लामी संस्कृति भी इस भारतीय लोकाचार से प्रभावित हुई। उसने औरतों के

[14] अनामिका, स्त्रीत्व का मानचित्र (सारांश प्रकाशन, हैदराबाद, 2001)), पृ.सं. 28

शरीर को पवित्रता एवं शुचिता से जोड़कर उसके सामाजिक जीवन की हरम में कैद किया और भोगवादी संस्कृति को बरकरार रखा। इसी भोगवादी संस्कृति में पहले पहल पितृसत्ता ने धर्म से गठजोड़ बहुपत्नीवाद को न्यायसंगत बनाया और बाद में देह की शुचिता का हवाला देकर हरम की संस्कृति को बढ़ावा दिया। अब हर घर हरम में तब्दील हो चुका था। उच्च वर्ग और मध्य वर्ग की स्त्रियाँ घर की चहारदीवारियों में कैद थी। (निम्न वर्ग के संदर्भ में यह बात पूरी तरह लागू नहीं होती है)

ऐसा कहा जाता है कि इस कैद से मुक्ति के लिए औपनिवेशिक भारत में स्त्री शिक्षा पर जोर दिया गया। लड़कियों को पब्लिक स्कूल भेजने की कवायद शुरू की गई। जहाँ पढ़ा-लिखा भद्र वर्ग तैयार हो चुका था वहाँ व्यक्तिगत और सामूहिक प्रयास भी किया जा रहा था। बंगाल में ईश्वरचंद्र विद्यासागर, महाराष्ट्र में ज्योतिबा फुले और सावित्री बाई आदि स्त्रियों की मुक्ति के लिए प्रयासरत थे। औपनिवेशिक सरकार भी इस क्षेत्र में बढ़ चढ़कर मदद कर रही थी। हालांकि ''अंग्रेजी शिक्षा व्यवस्था पुरुषों के लिए एक साफ मकसद को ध्यान में रखकर लागू की जा रही थी। इसका मकसद अंग्रेजी शासन के लिए एक नया सामाजिक आधार और एक उपकुलीन वर्ग (दोयम दर्जे का बाबू वर्ग) तैयार करना था जो औपनिवेशिक प्रशासकीय ढांचे को संभाल सके। जब औपनिवेशिक शासन ने लड़कियों के लिए सरकारी स्कूल खोले तो स्त्रियों के लिए शिक्षा का मकसद खुद उनकी नजर में भी साफ नहीं था। फिर भी एक मसले पर शासकों और सुधारकों में दोनों में पूरी सहमति थी। लड़कियों के लिए शिक्षा का मकसद यह नहीं था कि उन्हें काम-धंधों या सरकारी नौकरी के लिए तैयार किया जाए। लड़कियों के लिए स्कूलों की व्यवस्था भारतीय मिट्टी में 'गृहिणी' के रूप में स्त्री की विक्टोरियाई आदर्श छवि स्थापित करना था। इस छवि में औरत अपने घर और चूल्हे-चौके की स्वाभाविक स्वामिनी थी और उसकी जिंदगी का क्रिया-व्यवहार कठोर प्रतिस्पर्धा भरी बाहरी दुनिया से लौटने वाली पति के वास्ते एक आनंददायक आरामगाह

की रचना करना था।''[15] यही हाल कमोबेश व्यक्तिगत और सामूहिक प्रयास का भी था। गृहिणी शिक्षा के नाम पर धार्मिक और नैतिक शिक्षा के साथ-साथ चरित्र निर्माण करने वाली पुस्तकों को पढ़ाया जाता था। लेकिन जब कभी पब्लिक स्कूल में प्रेम सागर, विधांकुर और इतिहासतिमिरनाशक जैसी पुस्तक लड़िकयों को पढ़ाया जाता तो भारतीय नवजागरण के उन पुरोधाओं की भौंए तन जाती, जिन्हें हम आज तक स्त्री शिक्षा का हिमायती समझ रहे हैं। सहशिक्षा के संदर्भ में इनका बयान उसी मानसिकता की ओर इशारा कर रहा था, जिससे स्त्रियों की वास्तविक लड़ाई थी। 1816 में 'हिन्दू कॉलेज' खुलने के शीघ्र बाद स्त्री शिक्षा को बढ़ावा देने के लिए 'कलकत्ता स्कूल सोसाइटी' की स्थापना हुई। इसके सचिव 'राधाकांत देव शास्त्री' स्त्री शिक्षा के संरक्षक बने। ये वही राधाकांत देव शास्त्री हैं जो सती प्रथा पर कानून बन जाने के बाद राजा राममोहन राय और अंग्रेजी शासन के विरूद्ध मोर्चा खोलते हैं। कहने का आशय यह है कि औपनिवेशिक भारत में भी पितृसत्ता स्त्रियों को कोई ऐसा मौका नहीं देना चाहती थी जिससे वे स्वतंत्र रूप से सोच समझ सकें। पितृसत्ता द्वारा खड़ा किया गया स्त्री आंदोलन इस कदर नियंत्रित और नियमित था कि कोई विद्रोही स्त्री उसमें पैदा हो ही नहीं सकती थी। यहाँ तक कि जब स्त्रियों को अपने हक में बोलने की अनुमति दे दी जाती थी तो भी वे पुरुषों की जबान में ही बोलती थीं और उनकी सोच पितृसत्तात्मक विश्व दृष्टिकोण द्वारा उनके लिए तय कर दी गई सीमाओं के भीतर ही सिमटी रहती थी। पितृसत्ता ने विभ्रम का ऐसा ताना-बाना बुना था कि सामंती ढांचे को तोड़ने की बात तो छोड़िए, स्त्रियों के चेतन मस्तिष्क से तो सामंती ढांचा को अदृश्य कर दिया गया था।

पहले-पहल सावित्री बाई फुले, रमाबाई रानडे, पंडिता रमाबाई आदि महिलाओं ने उस सामंती ढांचे को देखा था। न्यायमूर्ति महादेव गोविंद रानडे की पत्नी रमाबाई रानडे ने 'औरतों की असहमति' को देखा था, जो पुरुष सत्ता के विश्व दृष्टिकोण से संचालित थी। पंडिता रमाबाई ने औपनिवेशिक सरकार और भारत के पुरुषों के साथ की गई संधियों की राजनीति को पहचान लिया था। इसी वजह से उन्होंने

[15] सं. रंजीत अभिज्ञान, पूर्वा भारद्वाज, जेंडर और शिक्षा रीडर भाग-1 (निरंतर, दिल्ली, 2010), पृ.सं.14

‘शारदा सदन’ और ‘मुक्ति मिशन’ में स्त्रियों के मुक्ति के सूत्र देखे थे। वहीं गंगाबाई (माताजी महारानी तपस्विनी) ने 1893 में बंगाल में विशुद्ध भारतीय ढर्रे पर राष्ट्रवादी पुनरूत्थानवादी कार्यक्रम की तरह ‘महाकाली पाठशाला’ की स्थापना की। इस संस्था ने हिंदू समाज के भीतर से ही मुक्ति के सूत्र को निकाला था। बेगम रूकैया सखावत हुसैन और सिस्टर सुब्बालक्ष्मी ने भी स्त्री शिक्षा में अहम योगदान दिया। महाकाली पाठशाला की ही तरह ये पर्दा व्यवस्था संबंधी बंदिशें रूढ़िवादी रिवाजों तथा जाति नियमों को तोड़ नहीं पायी। लेकिन इनके योगदान को कम करके आंका नहीं जा सकता है।

औपनिवेशिक भारतीय समाज में स्त्रियाँ बदल रही थी। दरअसल औपनिवेशिक भारतीय समाज बुर्जुआकरण के दौर से गुजर रहा था। इसके परिणामस्वरूप घरों में औरतों का मूल्य पहले से कहीं अधिक समझा जा रहा था। पढ़ा-लिखा युवा वर्ग अपने सोशल स्पेयर में शिक्षित संगिनी की उम्मीद पाले बैठा था। समाज तेजी से बदल रहा था। तेजी से बदल रहे उस दौर में हिन्दुओं के साथ-साथ मुस्लिम समाज के कुछ तरक्की पसंद लोग भी बदलाव के आग्रही थे। सर सैयद अहमद खाँ की माँ ‘अज़ीजुननिसाँ बेगम’ (1780-1857) पहली औरत थीं जिसके बारे में मुसलमान पुरुषों की जीवनियों और आत्मकथात्मक विवरणों में शानदार उल्लेख मिलते हैं। अज़ीजुननिसाँ बेगम अपने बेटे को सादी की ‘गुलिस्तान’ और ‘बुस्तान’ में लिखी नैतिक कहानियों व सूक्तियों की शिक्षा देती थीं। इसमें कोई संदेह नहीं कि एक अच्छी माँ एक हजार शिक्षकों से बेहतर होती हैं। यह भले ही विक्टोरियाई शिक्षा शास्त्र की सूक्ति की प्रतिध्वनि हो फिर भी यह एक सकारात्मक पहल था। ‘वॉयसेस ऑफ साइलेंस’ में एडम की रिपोर्टों और हाली के मजलिस-उन-निसा तथा जीवनियों के आत्मकथाओं के उद्धृत स्रोतों पर ‘उस्तानियों’ का जिक्र साबित करता है कि उन दिनों पढ़ी-लिखी औरतों का एक सेवा समूह मौजूद था। भोपाल की तीन पीढ़ियों की शिक्षित बेगम सिकंदर बेगम (1819-1868), शाहजहाँ बेगम (1838-1901) और सुल्तानजहाँ बेगम (1858-1830) इस बात की जिंदा मिसालें थीं कि शिक्षित महिलाएँ सक्षम प्रशासक हो सकती हैं और यह भी कि सार्वजनिक जीवन चरित्र की पवित्रता व भद्रता को कम नहीं कर देता। उत्तर भारतीय

मुसलमानों में ऐसी औरतों की उपस्थिति के कारण सभी औरतों के लिए न सही, तो कम से कम उच्च वर्ग की कुछ औरतों के लिए 'अनुमति योग्य' व्यवहार की सीमाएँ कुछ हद तक फैलीं। 'आबदी बानो बेगम' (1852-1924) जिन्हें 'बी अम्मां' के नाम से जाना जाता है और बिजनौर की 'अशरकन्निसा बेगम उर्फ अशरफ बी' (1840-1903) औरतों के लिए रोल मॉडल बनीं। अब औरतों में जागृति आ चुकी थी। औरतों ने औरतों के लिए 'जनाना मदरसा' और 'जनाना स्कूल' स्थापित किये। अलीगढ़ में वहीद जहां बेगम की निगरानी में शेख अब्दुल्ला ने 1906 के 19 अक्टूबर को जनाना मदरसा शुरू किया। समुदाय के भीतर के लोगों ने पहलकदमी ली और कई जगह अंग्रेज प्रशासन से मिलकर भी जनाना स्कूल स्थापित किये गये। 1908 में भोपाल की बेगम सुल्तान जहाँ ने 'ऑल इंडिया एजुकेशनल कांफ्रेंस' से भोपाल में लड़कियों के स्कूल की पाठ्यचर्चा और पाठ्य पुस्तकें बनाने की पेशकश की थी। लाहौर से निकलने वाली पत्रिका 'तहजीबे निस्वाँ' में सुधार के मुद्दे पर उनके कई भाषण और लेख मिलते हैं।

स्त्री शिक्षा के सफल प्रयोग शिक्षित भारतीय स्त्रियों के परिश्रम के कारण ही संपन्न हुए। उन्होंने जेंडर सापेक्ष समाजीकरण की राजनीति की बहुत हद तक तोड़ने का प्रयास किया। इनकी संस्थाओं में पाठ्यचर्चा के दौरान इस मुद्दे को विस्तार से समझाया जाता था। शिक्षित स्त्रियों की पहली पीढ़ी ने अपने आपको अभिव्यक्त करना शुरू किया था। इसकी चर्चा इसी अध्याय में आगे की जाएगी। 19वीं सदी का सुधारवादी स्त्री आंदोलन पितृसत्ता औपनिवेशिक सत्ता के तमाम साजिशों के बावजूद एक गतिशील प्रक्रिया से होकर गुजर रहा था। अब स्त्रियाँ शिक्षित हो रही थीं और उसके बाद शिक्षाकर्मी बन रही थीं। 19वीं सदी की आरंभ की सीमा 20वीं सदी के आरंभ में काफी बदल चुकी थी। एक पीढ़ी के लिए जो विचलनकारी व्यवहार था। वह अगली पीढ़ी में स्वीकार्य व्यवहार समझा जाने लगा। औपनिवेशिक भारत में स्त्रियों की सामाजिक उपस्थिति बढ़ती है। 19वीं सदी के सुधारवादी आंदोलन ने स्त्रियों की वर्ग चेतना को उभारा था। पढ़ी-लिखी स्त्रियाँ स्त्री-जाति के उत्थान के लिए प्रतिबद्ध थीं। हाँ! ये सच है कि पुरुषों ने

कई मोर्चों पर उन्हें घेरा, घेरने की कोशिश की और बहुत हद तक सफल भी हुए लेकिन अब स्त्रियाँ लड़ रही थीं। डटकर मुकाबला कर रही थीं।

सोपानी व्यवस्था में रचनात्मक उपस्थिति दर्ज करती स्त्रियाँ

औपनिवेशिक भारत में जिस तरह महिलाओं की सामाजिक उपस्थिति बढ़ती है, ठीक उसी तरह महिलाओं की रचनात्मक उपस्थिति में भी बदलाव आता है। मज़हबी मसलों से लेकर सियासी-समाजी मसलों पर औरतें अपनी राय रख रही थीं। लगभग हर विधा में औरतें लिख रही थीं- लेख, कहानी, कविता, धारावाहिक, सवाल-जवाब, साक्षात्कार, समीक्षा, टिप्पणी। संपादकीय और राजनैतिक विश्लेषण भी। 'हमारे यहाँ महिला लेखन की अविच्छिन्न धारा रही है, आवश्यकता उसे खोज निकालने की है और उसे एक आकार देने की'। पीछे जिस प्रकार हमने भारतीय समाज व्यवस्था में स्त्रियों की स्थिति को दिखाने का भरपूर प्रयास किया ठीक उसी प्रकार यहाँ पर महिला-लेखन की एक अविच्छिन्न परंपरा को जानने की कोशिश करेंगे। हम अविकसित समाज से लेकर विकसित समाज की यात्रा करेंगे और महिलाओं के रचनात्मक योगदान को सरसरी निगाह से देखेंगे।

समाज के प्रत्येक व्यकित का समाज के प्रति कुछ दायित्व होता है। समाज जितना कम विकसित हो, उतना ही यह दायित्व अधिक स्पष्ट और अनिवार्य होता है। अविकसित समाज में विकल्प की गुंजाइश कम रहती है। कहने का आशय यह है कि जंगली मानव-समाज में स्त्रियाँ पुरुष के साथ शिकार पर जाती थीं। निम्नपुरापाषाण काल के 'चौपर चापिंग पेबुल संस्कृति' तथा 'हस्त कुठार संस्कृति' में उसने भी बनाया होगा चौपर और हस्त कुठार नामक उपकरण। सभ्यता के विकास क्रम में मानव-समाज जंगल छोड़ गुफा को अपना आवास बनाया। गुफावास में प्रसव के दौरान अक्षमता और अपर्याप्तता के बीच के निविड़ अकेलेपन में स्त्रियों ने ही गाए होंगे दर्द भरे गीत। उसने ही फूल-पत्तियों को निचोड़कर बनाया होगा

भीमबेटका, अजंता, एलोरा, मोरगाँव, मिर्जापुर के गुफा-चित्र। नक्काशी और चित्रकला का ईजाद निविड़ अकेलेपन में स्त्रियों ने ही किया होगा। क्योंकि ''कला सामाजिक अनुपयोगिता की अनुभूति के विरूद्ध अपने को प्रमाणित करने का प्रयत्न है। अपर्याप्तता के विरूद्ध विद्रोह है।''[16] सभ्यता की शुरूआत में श्रमशील स्त्रियाँ प्रसव के दौरान भी अपनी रचनात्मक उपस्थिति दर्ज करती रही। नक्काशी, चित्रकारी, गीत, संगीत के माध्यम से पूरे कुनबे का मनोरंजन करती रही।

धीरे-धीरे सभ्यता के विकास के साथ कबीलाई समाज का निर्माण हो रहा था और इसी कबीलाशाही में पुरुष सत्ता का ढांचा भी तैयार हो रहा था। स्वभावत: अतिक्रमणकारी पुरुष स्त्रियों के व्यक्तित्व पर हावी होना चाहता था। इसी कारण उसने स्त्रियों को श्रम से दूर रखना शुरू किया। अब यहाँ सवाल उठता है कि स्त्रियों को श्रम से दूर क्यों रखा गया? क्या जंगली समाज में स्त्रियाँ प्रसव काल से नहीं गुजरती थी? इन सवालों पर जब हम रूक करे सोचे तो पातें हैं कि पुरुष स्त्री के शरीर पर सर्वाधिकार चाहता था और ये सर्वाधिकार उसे तब तक नहीं मिल सकता था जब तक स्त्रियाँ उसके साथ शिकार पर जाती रहती। इसी कारण पुरुषों ने स्त्रियों को उस श्रम से दूर रखा जो मनुष्य की चेतना के विकास में सहायक होता है। श्रम से ही मनुष्य के मस्तिष्क और इंद्रियों का विकास होता है। श्रम ही चेतना क्षमता, कल्पना शक्ति और निर्णय लेने की शक्ति को निर्धारित और नियंत्रित करता है। स्वभावत: अतिक्रमणकारी पुरुषों की सत्ता को यह कतई पसंद नहीं होता कि स्त्रियाँ अपनी भाषा का ईजाद करें। अपने ढंग की चेतना का निर्माण करें। अपनी बात को अपनी भाषा और अपनी शैली में रखें। इसलिए पुरुष सत्ता ने सुनियोजित ढंग से स्त्रियों को श्रम से दूर रखा। वैदिक ब्राह्मण एवं स्मृति ग्रंथों में ऐसे तमाम कानून बनाये गये जो स्त्रियों को बाहरी श्रम से दूर रख घर के अंदर घरेलू काम करने की जोरदार पैरोकारी करता है। यह पैरोकारी स्त्रियों के चेतना के दायरे को सीमित करने की सोची समझी चाल है जिससे उनकी चेतना का निर्माण पितृसत्ता के विश्व दृष्टिकोण के अनुरूप हो।

[16] सं. कृष्णदत्त पालीवाल, अज्ञेय प्रतिनिधि निबंध (एन.बी.टी. , दिल्ली, 2011), पृ.सं.14

ब्रह्मवादिनी स्त्री घोषा जब अश्विनी कुमार से प्रार्थना करती है तो कोई विशेष आश्चर्य नहीं होता। उसकी प्रार्थना है, ''हे अश्विनी कुमार, मैं ज्ञान-बुद्धिहीन नारी हूँ। आपका आशीर्वाद मुझे दुर्गति से बचाए। आपके आशीर्वाद से मेरे पुत्र, पौत्र, प्रपौत्रादि सुप्रतिष्ठित होकर जीवन-यापन करें। पतिगृह में मैं पति की प्रिय पात्री बनूँ।''[17] ये प्रार्थना पितृसत्ता के विश्वदृष्टि के अनुरूप है। उनकी भाषा उनकी शैली, उनकी पूरी की पूरी चेतना पुरुषों के समकक्ष है।

"अहमेव वातइव प्रवाम्यरभमणा भुवनानि विश्वापरो

परो दिवापर एना पृथित्यैतावनी महिना सं बभूव"

अर्थात् हे विज्ञ! मैं जो कहती हूँ, व पूर्ण यथार्थ है; मुझे न मानने वाले क्षीणता को प्राप्त होते हैं, मैं देवताओं और मनुष्यों के परम पुरुषार्थ की उपदेशिका हूँ, मेरी कृपा से ही लोग बलवान, मेधावी, श्रोता और कवि बनते हैं।''[18] इस तरह के आशय वाले श्लोकों में अक्सर आलोचक नारी शक्ति को देखते हैं लेकिन यहाँ पर मुझे पुरुष ही दिखते हैं बस इतना अंतर है कि उपदेशक की जगह उपदेशिका है। फिर भी जिस दौर में स्त्रियों की शिक्षा की कोई व्यवस्था नहीं थी, उन्हें घर के अंदर कैद किया जा रहा था, उस दौर में स्त्रियों की रचनात्मक उपस्थिति बेहद ही सराहनीय है। उस विपरीत समय में स्त्रियाँ अपने पिता, पति, भाई से शिक्षा ग्रहण कर रही थी, घर में ऋचाओं और श्लोकों को सुन-सुनकर अपनी रचनात्मक उपस्थिति दर्ज कर रही थी। यह ज्यादा महत्वपूर्ण है। "ये स्त्रियाँ सिर्फ वैयक्तिक संबंधों पर ही नहीं लिख रही थी वरन सामाजिक उद्देश्यों को प्रतिष्ठित करने वाली स्त्रियों की भी एक पूरी परंपरा है। बहुत-सी मंत्र द्रष्टाएँ स्त्रियाँ रही हैं, जिनके कुछ मंत्र तो ऐसी सम्यक सामाजिक दृष्टि से महमह है कि उन्हें पूरा उद्धृत करना समीचीन होगा -

---

[17] सुमन राजे, हिंदी साहित्य का आधा इतिहास (भारतीय ज्ञानपीठ, दिल्ली, 2011), पृ.सं. 24

[18] अनामिका, स्त्रीत्व का मानचित्र (सारांश प्रकाशन, हैदराबाद, 2001)), पृ.सं. 27

आ ब्रह्म बाह्मणो ब्रह्मवर्चसी जायतामारराष्ट्रे राजन्य: शूर

इषण्योतिव्याधी महारथी जायताम् दोग्घ्री धेनुर्वाढ़ानड्वानाशु:

सप्ति: पुरन्धिर्योषा जिष्णुरथेष्टा: सभेयो युवास्य यजमानास्य

वीरो जायताम, निकामे निकामे न: पर्जन्यो वर्षेतु फलवत्यो

न ओषधय: पच्यन्ताम् योगक्षेमी: न कल्पतान्।

अर्थात् हे भगवन, हमारे ब्राह्मण ब्रह्मतेज से युक्त हो, क्षत्रिय शस्त्रास्त्र में निपुण हो, वैश्य का व्यापार सुचारू रूप से चले, गौएं दूध देने वाली, अश्व द्रुतगामी, योद्धा जयशील, युवक-युवतियाँ निर्भीक हों, मेघ समय पर बरसें, औषधियाँ स्वास्थ्यवर्धक हों और संपूर्ण देशवासियों का योगक्षेम चलता रहे।''[19]

हम पाते हैं कि वैदिककालीन ब्रह्मवादिनी स्त्रियाँ पितृसत्ता के ढांचे के अंदर पुरुष की ही भाषा में मंत्र और ऋचाओं का निर्माण कर रही होती हैं। इन मंत्र और ऋचाओं में उनका अपना निजी कुछ भी नहीं है। लेकिन जब हम बुद्ध के समकाल में रहने वाली थेरियों की ओर नजर दौड़ाते हैं तो पाते हैं कि ईसा पूर्व छठी शताब्दी की इन थेरीगाथाओं में पितृसत्ता का विरोध, ब्राह्मणों के धार्मिक और सामाजिक प्रभुत्व की मुखर आलोचना है। सबसे महत्वपूर्ण यह है कि इन थेरियों ने स्वानुभव और निजी रुचि के आधार पर अपनी आध्यात्मिक शक्ति का विकास किया। इनकी गाथाओं में मुक्ति की छटपटाहट है।

''मुत्रे चुच्चस्सु योगेहि, चन्दो राहुग्गहा इब।

विप्पमुत्रेन चित्रेन, अनणा भुंज पिण्डकं ति''

अर्थात् मुक्ता! तू मुक्त हो जा। राहु के ग्रहण से मुक्त हुए चंद्रमा की तरह, तू सब सृंखलाओं से मुक्त हो जा। विमुक्ति-प्राप्त चित्र के द्वारा ऋण को चुकाकर ही तू (राष्ट्र का) अन्न खा! ''[20]

[19] अनामिका, स्त्रीत्व का मानचित्र (सारांश प्रकाशन, हैदराबाद, 2001)), पृ.सं. 28

[20] भरतसिंह उपाध्याय, थेरीगाथा (गौतम बुक सेन्टर, दिल्ली, 2010),पृ.सं. 08

बुद्ध के दिए हुए उपदेश को इन थेरियों ने आत्मसात किया और अपने भीतर की यात्राएँ, अनुभव एवं पूर्व स्मृतियों से अपने रचना संसार का निर्माण किया है। उनके निजी जीवन के अनुभवों से लेकर भिक्षुणी बनने की यात्रा का अनुभव उनकी रचनाओं में मिलता है। आज के संदर्भ में यदि इनकी कुछ रचनाओं का विश्लेषण किया जाए तो ये वर्ग और जेंडर के आधार पर होने वाली दमन की कथा दिखती है। उज्जयिनी के कुलीन वैश्य परिवार 'ऋषिदासी की कथा हो या फिर दरिद्र ब्राह्मण कन्या मुक्ता (द्वितीय) का जीवन' सुमंगलमाता द्वारा अंकित पूर्वानुभत-चित्र इतने अधिक वास्तविक हैं कि आधुनिक लगते हैं -

अहो। मैं मुक्त नारी। मेरी मुक्ति कितनी धन्य है!
पहले मैं मूसल लेकर धान कूटा करती थी,
आज उससे मुक्त हुई।
मेरी दरिद्रावस्था के वे छोटे-छोटे बर्तन!
जिनके बीच मैं मैली-कुचैली बैठती थी,
और मेरा निर्लज्ज पति मुझे उन छातों से भी तुच्छ समझता था
जिन्हें वह अपनी जीविका के लिए बनाता था।''[21]

वैदिक ब्रह्मवादिनी ऋषिकाओं के उलट ये थेरियाँ विवाह संस्था का विरोध करती हैं। वैदिक ऋषिकाएँ गृहस्थ हैं, कुछ अविवाहिताएँ भी हैं, परंतु उनके हृदय में विवाह संस्था के लिए कोई विरोध नहीं है, जबकि थेरियाँ पति को छोड़कर, ठुकराकर और विवाह एवं परिवार संस्था से विद्रोह कर अपनी मुक्ति का मार्ग तलाश करती हैं। यहाँ हड़प्पा और मोहनजोदड़ो सभ्यता फली-फूली फिर भी सदियों से स्त्री के लिखे हुए को उपेक्षित किया गया। मुख्यधारा के साहित्य और आलोचना में स्त्री लेखन को कोई महत्ता नहीं दी गयी। बौद्ध धर्म ने पहली बार जिस तरह की उदारता स्त्रियों के संदर्भ में दिखाई, थेरीगाथाएं उसी

[21] भरतसिंह उपाध्याय, थेरीगाथा (गौतम बुक सेन्टर, दिल्ली, 2010),पृ.सं. 15

का परिणाम हैं। बौद्ध धर्म ने पहली बार स्त्रियों को आत्माभिव्यक्ति की स्वतंत्रता दी। घर की चारदीवारी की कैद से बाहर निकल कर अपनी इयत्ता की तलाश की सुविधा दी। ये थेरियां बुद्ध की समकालीन थीं। थेरी मुत्ता कहती हैं कि मैं मुक्त हुइ ,मुक्त हुई सभी क्षुद्रताओं से ,बंधनों से ...ऐसी अनेक थेरियां हैं जिनकी रचनाएँ इस बात की ओर इशारा करती हैं कि ऐसी कई स्त्रियाँ थीं जिन्होंने घरेलू एवं सांसारिक झमेलों से बचने के लिए धर्म और आध्यात्मिकता का सहारा लिया।

अगर देखा जाए तो थेरियों की मुक्ति भी बौद्ध विहार तक ही सीमित है। उनकी मुक्ति भी कुछ शर्तों पर आधारित है। सबसे महत्वपूर्ण यह कि मुक्त होने के बाद इनके पास भविष्य की कोई योजना नहीं है। क्या वे अपनी निजी इच्छा और आदिम आकांक्षा के साथ स्वतंत्र जी सकती हैं?-नहीं ! बिल्कुल नहीं !

बुद्ध ने स्त्री और पुरुष दोनों को निर्वाण प्राप्त करने और बौद्ध विहारों में भिक्षुओं एवं भिक्षुणियों को समान रूप से ध्यान और दार्शनिक शिक्षा प्राप्त करने की छूट तो दी लेकिन स्त्रियों के संदर्भ में बुद्ध के विचार स्पष्ट नहीं थे। स्त्रियों के संदर्भ में बुद्ध के विचार जानने के लिए अगर हम थेरगाथाओं पर नजर डालें तो पता चलता है कि अन्य संन्यासियों और भिक्षुकों की तरह बौद्ध भिक्षु भी स्त्री को, कामिनी स्वरूपा मानते हुए साधना के मार्ग से भटकाने वाली मानते ही हैं। इसी वजह से संघ में स्त्रियों के प्रवेश पर खुद बुद्ध को भयंकर आपत्ति थी। विमाता 'महाप्रजापति गौतमी' के बार-बार अनुरोध को भी बुद्ध ने अस्वीकार कर दिया था, लेकिन जब प्रिय शिष्य आनंद ने स्त्रियों के संघ में प्रवेश के लिए तर्क दिए तब बुद्ध ने स्त्रियों के संघ में प्रवेश की आठ शर्तें रखीं। इन आठ शर्तों में कुछ शर्तों का जिक्र करना जरूरी है- 'भिक्षुणियाँ भिक्षुओं का आदर करेंगी, भिक्षुणियाँ कोई परामर्श नहीं दे सकती हैं, भिक्षुणी को आक्रोश-परिभाषण नहीं करना चाहिए, भिक्षुणियों के लिए भिक्षुओं को कुछ कहने का मार्ग निरूद्ध है जबकि भिक्षुओं के लिए निरूद्ध नहीं है, आदि।' ये स्त्री मुक्ति के लिए रखी गयी वे शर्तें हैं जो धर्म और पुरुष सत्ता की संधि पर आधारित है। जिस प्रकार 'डॉ. धर्मवीर' नाम के ज्ञात न होने पर भी कुलीन क्षत्रिय थेरी

से थेरीगाथा की थेरियों की शुरूआत करने के पीछे 'बौद्ध वर्ण-व्यवस्था क्रम' को देखते हैं उसी प्रकार हमें इन शर्तों में पुरुष भिक्षुओं को तुष्ट करने के बहाने पुरुषवादी वर्चस्व को बरकरार रखने की नीति को देखना होगा। इसी कारण से संघ में प्रवेश के लिए पति, पिता या अभिभावक (जो अक्सर पुरुष ही होता है) की अनुमति जरूरी है लेकिन संघ का उलट कायदा तब सोचने पर मजबूर कर देता है जब 'अभिरूपा नन्दा' को उसकी इच्छा के विरूद्ध प्रवज्या लेने पर विवश होना पड़ता है। ऐसा क्यों? ऐसा क्यों होता है कि मुक्ति पा लेने के बाद भी थेरियों के पास भविष्य की योजना के नाम पर आध्यात्मिक विकास और मोक्ष प्राप्ति ही एकमात्र योजना है। थेरियाँ बौद्ध संघ में मुक्त तो हुई लेकिन स्वतंत्र नहीं हो सकीं।

बहरहाल तमाम अंतर्विरोधों के बाद भी थेरियों द्वारा उस बंद समाज में विवाह संस्था को नकारना एक क्रांतिकारी कदम था। स्त्रियों द्वारा रचा गया इस तरह का साहित्य भारत में संभवत: पूरे विश्व में, सर्वप्रथम बौद्ध थेरियों की गाथाओं के रूप में ही मिलता है। थेरीगाथा स्त्री मुक्ति का पहला दस्तावेज है। मुक्ति के लिए जो तेवर थेरियों के यहाँ दिखता है कालांतर में क्या उसका पर्यवसन स्वातंत्र्य चेतना के रूप में हो पाता है? थेरियों की मुक्ति चेतना आगे आने वाली स्त्री रचनाकारों और स्त्रियों को कहाँ तक प्रभावित करती हैं? इन्हीं प्रश्नों के साथ हम आगे बढ़ते हैं।

"भारतीय कला और साहित्य के क्लासिक युग में स्त्री रचनाकारों की मौजूदगी भी देखी जा सकती है। हाल की 'गाथा सप्तशती' में लगभग सोलह कवयित्रियों की रचनाओं के उल्लेख टीकाकारों ने किए हैं। परंतु, जैसा कि संग्रह ग्रंथों में प्राय: होता है, यहाँ भी रचनाओं और उनके रचनाकारों के संबंध में काफी भ्रम की गुंजाइश है।...गाथा सप्तशती में संगृहित कवियों में जिनके परिचय सूत्र प्राप्त हो सके हैं, उनके पृथक ग्रंथ भी है। संभव है कवयित्रियों की भी स्वतंत्र रचनाएँ रही हों जो सुरक्षित नहीं रह सकीं।''[22]

[22] सुमन राजे, हिंदी साहित्य का आधा इतिहास (भारतीय ज्ञानपीठ, दिल्ली, 2011), पृ.सं. 111

इन सोलह कवयित्रियों में कुछ का नाम इस प्रकार है- रोहा, शशिप्रभा, रेवा, रेद्दा चन्द्रपुट्टिका, मृशांक लक्ष्मी, गुणगुग्धा। कुछ उदाहरण देखा जाना चाहिए।'

यथा-

''प्रेम मेरे चांचल्य का विधायक है, मेरा प्रिय जैसे-जैसे बजाएगा, मैं

वैसे-वैसे नाचूँगी। स्वभावास्तबध-वक्ष में भी चंचलता लिपटी रहती है।''

-शशि प्रभा

''जिसे छोड़ने पर जीवन यापन संभव नहीं कृतापराध होने पर भी उसे अनुनीत करना उचित है। बताओ तो सारे नगर के जलने पर भी अग्नि किसे प्रिय नहीं।   - रेद्दा।

शास्त्रीय कसौटी पर कसी ये रचनाएँ लोक संपृक्त हैं। इनकी रचनाओं में विरह का गीत गाती हुई स्त्री का चित्र है, प्रकृति एवं प्राकृतिक छटाओं का विहंगम दृश्य है तो कहीं-कहीं प्रकृति एवं मनुष्य के अद्वैत की कल्पना भी है। गाथा सप्तशती के आस-पास संस्कृत साहित्य में भी कवयित्रियों की उपस्थिति दर्ज की गयी है। 'राहुल सांकृत्यायन' एवं 'डॉ. बलदेव उपाध्याय' ने इस दिशा में अग्रणी भूमिका निभायी है।''[23] डॉ. उपाध्याय का कथन है, ''प्राचीन कवियों के प्रशंसात्मक पद्यों से इस संस्कृत की स्त्री कवियों के नाम का पता चलता है तथा सूक्ति-संग्रहों में संगृहित कविताओं से इनकी उदात्त प्रतिभा का हमें परिचय मिलता है। ऐसी 40 स्त्री-कवियों के लगभग डेढ़ सौ पध इधर-उधर बिखरे हुए पड़े हैं, जिनमें विज्जका, सुभद्रा, फल्गुहास्तनी, इन्दुलेखा, मारूला, विकटनितम्बा, शीलभट्टारिका के नाम मुख्य हैं। स्पष्ट प्रतीत होता है कि उसने कोई बृहद प्रबंध-काव्य भी लिखा था, जो आजकल उपलब्ध नहीं है।''[24] इन कवयित्रियों ने अपने को संस्कृत की क्लासिकल काव्य-परंपरा से जोड़े रखा। यह भी अनुमान लगाया जाता है कि कवि रूप में वे किसी न किसी दरबार से भी संबंधित थीं। प्रकृति वर्णन के अंतर्गत सूर्योदय,

[23] सुमन राजे, हिंदी साहित्य का आधा इतिहास (भारतीय ज्ञानपीठ, दिल्ली, 2011), पृ.सं. 112

[24] सुमन राजे, हिंदी साहित्य का आधा इतिहास (भारतीय ज्ञानपीठ, दिल्ली, 2011), पृ.सं. 113

वर्षा और वसंत के सुंदर चित्र इन्होंने खींचे हैं। 'ओखल गीति' में दृश्य एवं ध्वनि बिम्ब के माध्यम से धान कूटती औरतों का काव्य पंक्तियों के जरिए बड़ा ही मनोहारी दृश्य उकेरा है-

''लीला-स्नेहयुक्त उठते मूसल से चंचल बाहुरूपी कन्दली के द्वारा परस्पर गिरती चूड़ियों की खनखन से सुन्दर मधुर हुंकार के साथ, जीर से कम्पित वक्षस्थल से टूटते, ताल से सहित धान कूटने की गीतें शोभा दे रही हैं।''[25]

इसी तरह का गीत संगमयुगीन कवयित्रियों के यहाँ बहुत पहले देखने को मिलता है। "ईसा की सौवीं से 250 शताब्दी के बीच संगम युग के अंतर्गत कुल 2381 कविताओं में से 154 कविताएँ स्त्रियों की लिखी हुई मिलती है। इसके अतिरिक्त 102 कविताएँ ऐसी भी हैं जिनके रचनाकारों का नाम नहीं मिलता है। माना जाता है कि ये अज्ञात रचनाएँ भी स्त्री रचनाकारों की ही हैं। संगमयुगीन कवयित्रियों की कविताओं को दो भाग में बांटा गया है- अकम और पुरम। अकम कविताएँ अक्सर प्रेम कविताएँ होती थी, जो मनुष्य के अंत:संसार से संबंधित थी जबकि पुरम कविताओं का क्षेत्र विस्तृत था जिसमें भूमि युद्ध दरबार आदि का जिक्र मिलता है। प्रेम कविताओं में चरित्र आदर्शवादी होते थे जिसमें नायक, नायिका, नायिका की माँ, सखी, दासी, दूति, वेश्या आदि को देखा जा सकता है। जबकि पुरम ऐतिहासिक व्यक्तियों और वास्तविक घटनाओं से संबंधित होती थी। 'ए.के.रामानुजम' ने इन कविताओं का अनुवाद किया। इन कविताओं की विशेषता है कि इनमें स्थानों, प्रकृति, पेड़-पौधों, मौसम, पशु-पक्षी का विशद वर्णन मिलता है। संगम काल की ये कवयित्रियाँ भारतीय कृषि सभ्यता की सांस्कृतिक विशदता और भौतिक संपदा का जीता जागता इतिहास प्रस्तुत करती हैं। ये कविताएँ इस बात की ओर इंगित करती हैं कि कविता और गीत तत्कालीन दैनंदिन जीवन के अनिवार्य अंग थे। इस साहित्य के टिप्पणीकारों ने उन गीतों की ओर भी इशारा किया है। जो गीत स्त्रियाँ बीज बोते समय, नदी से पानी लाते समय, धान ओसाते

[25] सुमन राजे, हिंदी साहित्य का आधा इतिहास (भारतीय ज्ञानपीठ, दिल्ली, 2011), पृ.सं. 114

समय गाया करती थीं। उन गीतों की ओर भी इशारा किया है, जो स्त्रियाँ अनाज के पकने के दौरान उनकी चौकीदारी करते समय गीत गाती थी ताकि पशु-पक्षी खेतों से दूर हरें। साथ ही ऐसे भी गीत मिलते हैं जो कि बढ़ते हुए पौधों, फलों के पकने आदि के दौरान पौधों के तारीफ या प्रशंसा के गीत थे। इनके गीतों में ऐसे भी गीत मिलते हैं जिसे सुनकर जानवरों द्वारा घायल या फिर युद्ध में चोटिल व्यक्ति अपनी पीड़ा भूल सकें। लेकिन अब जो हमें गीत का संकलन उपलब्ध है उनमें सिर्फ दरबारी कविताएँ ही बांकी हैं।''[26] संगम कवयित्रियाँ जिस समय और समाज की कवितायेँ लिख रही थीं, उनके वैविध्य को देखना अपने आप में एक अनुभव है –युद्ध में अपने पुत्र के प्राणों को खो देने वाली एक स्त्री के बारे में लिखी कविता है–

''कई लोगों का कहना है –

वो वृद्ध औरत जिसकी झूलती चमड़ी हाथों की नसों का सहारा छोड़ चुकी है

जिसका पेट हो चुका है इतना सपाट ज्यों कमल का पत्ता

था उसका एक बेटा जो युद्ध के मैदान से पलायन कर गया

लोग कहते हैं युद्ध के डर से भाग गया

इतना सुनते ही उस वृद्धा ने कहा सच है अगर यह तो मैं ये छातियाँ काट डालूंगी

जिनका दूध पीकर हुआ वह बड़ा

और शिद्दत के साथ हाथ में लेकर तलवार

---

[26] सुसी थारू, के.ललिता, वुमन राइटिंग इन इंडिया-1 (ऑक्सफ़ोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, दिल्ली,1991),पृ.सं. 71

ढूँढने लगी युद्ध भूमि में पड़े कंकाल और हड्डियाँ

दीख गया उसे पुत्र का खंड खंड कटा शरीर

आनंदित हुई वह पुत्र –जन्म से भी ज्यादा”[27]

इस तरह की कविता तत्कालीन समय और समाज की लोकचेतना को व्यक्त करता है। इस चेतना का निर्माण उस समय के राजनीतिक, सामाजिक और सांस्कृतिक दबावों के फ़लस्वरूप हो रहा था। इस चेतना में एक विशेष प्रकार का सामंती आग्रह दिखाई देता है। यह सामंती आग्रह अक्सर अदूरदर्शी साबित होता है। संगम काल की सर्वाधिक चर्चित कवयित्री ‘औवियार’ हैं, जिन्होंने प्रेम और युद्ध दोनों विषयों पर कवितायेँ लिखीं। सुसी थारू और के. ललिता ने लिखा है कि औवियार की लिखी 59 कवितायें होने की पुष्टि की हैं जिनमें से कुछ अकम हैं और कुछ पुरम। इनकी एक कविता को देखते हैं-

‘उसने अपनी सखी से क्या कहा ‘

“उसने अपनी सखी से क्या कहा

धरती से भी प्राचीन

समुद्र की लहरों से पछाड़ें खाता तट

चट्टानों के कोने –अंतरे में छिपे बैठे पक्षियों की चिल्लाहटें

फूलों से घिरे ,छाया से ढके तट पर

---

[27] सुसी थारू, के.ललिता, वुमन राइटिंग इन इंडिया-1 (ऑक्सफ़ोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, दिल्ली,1991),पृ.सं. 76

प्रेम किया हमने

मेरी आँखों ने उसे देखा ,कानों ने उसे सुना

मेरी बांहें सुंदर हो गयीं ,हो उठीं विस्तृत

आलिंगन को फैली इन बांहों का

अब मैं क्या करूँ ?”[28]

ऐसा लगता है कि संगम साहित्य की शिष्ट अभिजात्य काव्य-परंपरा व्यापार एवं व्यापारी मार्ग से होते हुए उत्तर भारत पहुँच रही थीं। लगभग सारे इतिहासविद् इस बात पर एकमत हैं कि यह कालखंड आंतरिक व्यापार और बाह्य व्यापार दोनों दृष्टियों से काफी उन्नत था। मौद्रिक अर्थव्यवस्था के चलन के कारण शांतिपूर्ण व्यापार संभव था। इस खुशरंग माहौल में दरबार कला और साहित्य को काफी प्रश्रय दे रहा था। पहली बार दरबारी कवि के रूप में स्त्रियों की उपस्थिति दर्ज की जाती है। बहुत संभव हो दरबार एवं दरबार से संबंधित स्त्रियों को राष्ट्रभाषा संस्कृत में शिक्षा भी दी जाती रही हो। यही कारण है कि परिदृश्य में जितनी भी स्त्री रचनाकार मिली हैं उन्होंने अपनी अभिव्यक्ति का माध्यम संस्कृत ही चुना है। कवयित्रियाँ चाहे तमिल की हों, प्राकृत की हों या संस्कृत की, वे शिष्ट अभिजात्य काव्य-परंपराओं की खासी जानकार हैं। रचना के स्तर पर उनकी कविताओं को संभवत: पुरुष रचनाकारों की रचनाओं से अलगाया नहीं जा सकता। अब सवाल उठता है कि इनकी रचनाओं को पुरुष की रचनाओं से क्यों नहीं अलगाया जा सकता है। स्त्री रचनाकारों ने सामाजिक अंतर्विरोध को वर्ग एवं जेंडर विभेद को अनदेखा क्यों किया? स्त्री मुक्ति की चेतना इनके यहाँ से गायब क्यों है?

[28] सुसी थारू, के.ललिता, वुमन राइटिंग इन इंडिया-1 (ऑक्सफ़ोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, दिल्ली,1991),पृ.सं. 73

असल में अभिजात्य साहित्य में सामाजिक अंतर्विरोध एवं विद्रोह के लिए कोई जगह नहीं होती। खाया पीया अघाया ये वर्ग सब कुछ अच्छा-अच्छा, सुन्दर-सुन्दर देखने को आग्रही होता है। इनके लिए साहित्य और कला मनोरंजन का साधन मात्र है। इनके यहाँ विरह गीत भी अक्सर मनबहलाव का साधन होता है तो कभी-कभी विशेष मन:स्थिति में विशेष भाव को जागृत करने का प्रयास मात्र होता है। तब इन स्त्री रचनाकारों से मुक्ति के प्रश्न और सामाजिक अंतर्विरोधों पर टिप्पणी की उम्मीद रखना ज्यादती होगी क्योंकि दरबार में इस तरह की टिप्पणी करने वालों के लिए कोई भी जगह नहीं है। मुक्ति के इन प्रश्नों पर जिनसे उम्मीद रखी जा सकती थी उनके पास भी निराशा ही हाथ लगी।

नारी संतों की एक वृहत परंपरा के बावजूद औपनिवेशिक शासन के पहले तक थेरियों जैसी मुक्ति चेतना का भी अभाव दिखता है। स्त्री स्वतंत्रता की बात करना तो बहुत दूर की बात है। भारत में नारी संतों की वृहत परंपरा रही है। नयनारों में पुनितवती (संत करैक्काल अम्मैयार), भेड़यर्भराशि एवं तिलकावली। विष्णु भक्तों में अण्डाल, मीरा ताज, इन्द्रावती आदि। मराठी संतों में महदम्बा, मुक्ताबाई, जनाबाई आदि उल्लेखनीय हैं। कन्नड़ की अक्कमहादेवी, कश्मीर की लल्लेश्वरी और संत हब्बाखातून को भुलाया नहीं जा सकता। राम भक्ति शाखा के भी कुछ नारी संतों का भी जिक्र मिलता है। उत्तर भारत की संत परंपरा की बात करें तो रामानंद की दो शिष्याओं से होते हुए बावरी साहिबा, सहजोबाई, दयाबाई का भारतीय नारी संत परंपरा में उल्लेखनीय योगदान है। नाम और भी हो सकते हैं। लेकिन एकाध नामों को अपवाद मानकर छोड़ दिया जाए तो इन नारी संतों में मुक्ति चेतना, स्त्री स्वातंत्र्य चेतना का घोर अभाव दिखता है। इन संतों में शायद ही कोई नारी संत हो जिसने उस ब्राह्मण धर्म की आलोचना की हो, जो स्त्रियों की पराधीनता का, स्त्रियों के भयंकर देह शोषण का जिम्मेदार है। इन्होंने पति, परिवार, ससुराल आदि को छोड़ा जरूर है लेकिन ब्राह्मण धर्म के दायरे में रहकर। किसी ने सगुण ब्रह्म की उपासना की तो किसी ने निर्गुण ब्रह्म की प्रार्थना की। स्त्रियाँ धर्म के आभा मंडल एवं गुरू के गुरूडम से मुक्त नहीं हुई थी। इसी

कारण उन दिनों मंदिरों और मठों में स्त्रियों को नारकीय जीवन भोगना पड़ा था। तमाम क्रांतिधर्मिता के बावजूद मीरा भी अपना बेड़ा पार लगाने के लिए प्रभु से विनती करती है-''मेरा बेड़ा लगाय दीजो पार प्रभु जी आज करूं छूं।। - कश्मीर की चेतना संपन्न कवयित्री हब्बाखातून भी मायके वालों से उसी तरह गुहार लगाती है जैसे बारहवीं शताब्दी की लोक कवयित्री 'लखिया बाबुल' से शिकायत करती है-

''ससुराल में सुखी नहीं, मुझे उबारों
मायके वालों, मेरा कष्ट निवारों
चर्खा कातते आँख जो लगी मेरी
माल टूट गई चर्खे की
सास ने सब बाल मेरे खींचे
मौत-सी पीड़ा हुई मुझे बचा लो
मायके वालों, मेरा कष्ट निवारों।''[29]

दो हजार साल पहले के थेरी गाथाओं में इसी तरह की स्थिति का जिक्र है। हम जान चुके हैं कि इन दो हजार सालों में स्त्रियों की स्थिति और भी बदतर होती गयी। लेकिन जो मुक्ति की छटपटाहट नकार की चेतना थेरियों के यहाँ दिखती है; वैसी चेतना नारी संतों में नहीं दिखती है। ऐसा क्यों होता है कि 17वीं सदी की 'बहिणाबाई' स्त्री-योनि जन्म लेने पर ही सवाल उठाती है-

"वेद और पुराण चीख-चीखकर कहते हैं
औरत के साथ कभी भला नहीं हो सकता
मैं तो स्त्री शरीर लेकर जन्मी हूँ
फिर कैसे पाउंगी सत्य?

[29] सुमन राजे, हिंदी साहित्य का आधा इतिहास (भारतीय ज्ञानपीठ, दिल्ली, 2011), पृ.सं. 25

'वे मुर्ख, कामिनी हैं, भ्रमित करने वाली हैं

उनका साथ न्यौता देता है प्रलय को'

कहती है बहिणा, "स्त्री-शरीर ही है इतना भयकारक,

कैसे पाऊंगी इस संसार में सत्य"[30]

यह ठीक है कि यहाँ पर परोक्ष रूप में वेद-पुराण की आलोचना भी दिखता है लेकिन 2000 वर्षों के बाद थेरियों वाला तेवर नदारद है। महाराष्ट्र की 'जनाबाई' विठोवा से पानी गरम करवा सकती है ,जू निकलवा सकती है , कूड़ा फेंकवा सकती है ,लाड-प्यार , प्रेम और मनुहार कर सकती है लेकिन विठोवा के तंत्र पर हमला नहीं बोल सकती-

जना जमीन बुहारती

और भगवान

कूड़े को बटोर

माथे पर रखकर

दूर फ़ेंक आता है

मैंने ,तुम्हें समर्पण से जीता है

तभी तो तुम मेरे तुच्छ घरेलू कार्यों को

करते हो।

लेकिन विठोवा !

मैं तुम्हरा कर्ज कैसे चुकाऊंगी??[31]

---

[30] सुसी थारू, के.ललिता, वुमन राइटिंग इन इंडिया-1 (ऑक्सफ़ोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, दिल्ली,1991),पृ.सं. 107

[31] पूनम कुमारी, मध्यकालीन हिंदी काव्य का स्त्री पक्ष (अनामिका पब्लिशर्स, दिल्ली, 2015), पृ.सं. 33

एक और पद देखा जाना चाहिए-

'हे माधव देखो न-

कितने काम धरे हैं सिर पर,

इतना आटा गूंथना है अभी,

इतने कपड़े कूटने हैं

आओ भी, हाथ बंटा दो थोड़ा

या फिर तुम हेर दो जूं ही जरा-

कुछ तो करो न,कुछ करो।'[32]

दरअसल इस पितृसत्तात्मक समाज में स्त्रियों को पहली बार आध्यात्मिक मुक्ति के लिए सशर्त छूट मिली थी। स्त्रियाँ किसी भी स्थिति में शर्तों को तोड़ नहीं सकती थीं । दिनों-दिनों मजबूत हो रहे ब्राह्मण धर्म में शर्त का उल्लंघन विद्रोह माना जाता। इन दो हजार सालों में ब्राह्मण धर्म और भी मजबूत हुआ। ब्राह्मणों ने बौद्ध धर्म में सेंध लगाने की भरपूर कोशिश की और सफल भी हुए। जिस बौद्ध धर्म ने अपने जन्म काल से ही ब्राह्मण धर्म की जगह-जगह आलोचना ही की थी। उसी ब्राह्मण धर्म ने साज़िशन अवतारवाद के द्वारा बुद्ध की ही मूर्ति की पूजा शुरू कर दी। धीरे-धीरे धम्म में वैदिक कर्मकांड का प्रवेश भी हुआ। कहने का आशय यह है कि ब्राह्मणों ने बौद्ध धर्म के मुक्ति और सामाजिक न्याय के विचारों को वैदिक कर्मकांड से ढंक दिया। साथ ही बौद्धों के उस रास्ते को गोल-गोल घुमाकर जटिल चक्करदार बना दिया , जिस पर चलकर दलित और स्त्रियों के मुक्ति के आसार दिख रहे थे। ब्राह्मणों ने दलित और स्त्रियों को पूजा करने भक्त होने की छूट देकर उन्हें भी उसी व्यवस्था का सदस्य बना लिया। इसी कारण से ये नारी संत अपनी मुक्ति के सूत्र राम और कृष्ण में ही खोजती दिखती है। इसी वजह से इनके यहाँ ब्राह्मण धर्म की ईश्वर की

[32] अनामिका, स्त्री:साझा चूल्हा (एन.बी.टी. , दिल्ली, 2014), पृ.सं.116

आलोचना नहीं के बराबर दिखती है, अगर कुछ संतों के यहाँ दिखती भी है तो वहाँ ईश्वर की जगह एक विशिष्ट आभा मंडल के साथ गुरू की सत्ता विद्यमान है। इन्होंने ना कभी ईश्वर की सत्ता को प्रश्नांकित किया ना ही गुरू की सत्ता पर ही प्रश्न उठाए। ऐसा लगता है इन संतों को सोचने की मनाही थी। बस एक खास किस्म के आध्यात्मिक सुसाइड की ओर लगातार बढ़ते रहना था।

दरअसल ब्राह्मणवादी व्यवस्था में इनकी चेतना की निमृत्ति ही इस ढंग से की जा रही थी कि वे कोई सवाल न कर सकें। धर्म तंत्र और राजतंत्र के गठजोड़ ने स्त्रियों को हमेशा से दबाया ही है। राजतंत्र में स्त्रियाँ या तो हरम में कैद थी या फिर 'रवना' की तरह पुत्र को अपनी जीभ काटने की स्वीकृति दे रही थी। तो वहीं हम पिछले अध्याय में देख चुके हैं। मंदिरों एवं मठों में देवदासी के नाम भयंकर देह शोषण हो रहा था। स्त्रियाँ चुपचाप 'गुरू महिमा' का गान कर रही थी और अपने आराध्य के सामने गणिका की तरह नाचने में मशगूल थी। कोई अपने आराध्य के साथ होली खेल रही थी तो कोई विरह का गीत गा रही थी।

ऐसे फाग ख्चोले राम राय।

सुरत सुहागण सम्मुख आय।।-(संत उमा)[33]

नारी संतों की वृहत परंपरा में किसी भी संत बानी में स्त्रियों की स्वातंत्र्य चेतना का अभाव है। शायद ही किसी ने देवदासी जैसी सामाजिक कुरीतियों पर लिखने के लिए कलम उठाई हो, शायद ही किसी ने धर्म एवं पुरुष सत्ता के गठजोड़ की राजनीति को अपनी रचना में जगह दी हो। बहुत संभव है उन्होंने कुछ लिखा भी हो बाद में उसे नष्ट कर दिया गया हो। या फिर उन्होंने इन विषयों पर नहीं लिखा तो क्यों नहीं लिखा ये विस्तृत शोध का विषय है। हो सकता है कि उनकी चेतना पर पितृसत्ता का विश्व दृष्टिकोण विद्यमान हो, यह भी हो सकता है कि पितृसत्ता के दमन के आगे उन्होंने घुटने टेक दिए या फिर

[33] सं.जगदीश्वर चतुर्वेदी, सुधा सिंह, स्त्री-काव्यधारा (अनामिका पब्लिशर्स, दिल्ली, 2006),पृ.सं. 26

इस बात पर भी विचार किया जा सकता है कि काव्य रसिकों के बीच अपनी प्रमाणिकता हासिल करने के लिए उन्होंने इस तरह की रचना की। बहुत संभव है कि स्त्री-रचनाकारों ने पितृसत्ता से दमन के सामने एक विशेष प्रकार के 'मनोसमाजिकी' का निर्माण किया हो। क्योंकि औपनिवेशिक भारत में जिस तरह का तेवर इन रचनाकारों के पास दिखता है उससे ये अनुमान लगाया जा सकता है कि आक्रमक सत्ता के समक्ष इन्होनें एक विशेष प्रकार के 'मनोसमाजिकी' का निर्माण किया हो ये एक शोध का विषय है।

बहरहाल! अब हम औपनिवेशिक भारत की स्त्रियों के पास आते हैं। पहली बार स्त्रियों ने पुरुष सत्ता के विश्व दृष्टिकोण को तोड़ने का प्रयास किया। "इन स्त्रियों ने ब्राह्मण धर्म की उस राजनीति को पकड़ा है, जिसने एक पुरुष को पति परमेश्वर बनाया और उसके ही हाथ में सारी सत्ता सौंप दी। ये स्त्रियाँ निडर होकर धर्मशास्त्रों को चुनौती दे रही थी। पंजाब की एक अज्ञात हिंदू औरत का सीमंतनी-उपदेश महाभारत और मनुस्मृति की इस मान्यता का खंडन करता है कि स्त्रियों के वास्ते सिवा पति सेवा के और किसी तरह का पुण्य-भजन नहीं है। लेखिका पतिव्रत धर्म की इस बुनियादी मान्यता को चुनौती देती है कि 'स्त्रियों के वास्ते पति ही परमेश्वर है। दूसरा कोई नहीं। आदमी को ईश्वर ने पैदा किया, फिर आदमी क्यों कर परमेश्वर हो सकता है?' पहली बार एक सवर्ण भद्रवर्गीय हिंदू पतिधर्म की जगह मानव धर्म की पैरोकारी करती है। पहली बार किसी स्त्री ने मनु पर बेबाक टिप्पणी कर अपनी बात रखी थी। मनु ने द्विज जाति की विधवाओं का विरोध करते हुए लिखा था कि पुनर्विवाह करने वाली स्त्री मरने के बाद परलोक में पतिलोक को नहीं पाती। मनु की हैसियत से आतंकित हुए बिना लेखिका ने बेधड़क पति लोक के ख्याल का मजाक उड़ाया, 'पति लोक की तो खबर नहीं कहाँ है? किस विलायत में है?' उसने मनु के इस निर्देश की भी आलोचना की कि विधवा स्त्री को कम खाना चाहिए। 'यह सरासर ज़ुल्म है।' उलटकर उसने पूछा कि यही बात विधुर मर्दों के लिए क्यों नहीं लिखी? शील गुण और वफादारी से रहित पुरुष को भी देवता की तरह पूजने की मनु की व्यवस्था पर उसने टिप्पणी की कि आखिर 'मनु जी हिंदी मर्दों के दादा-परदादा गुरू थे।' इतिहास में शायद पहली बार किसी स्त्री ने मनु के इस वास्तविक गुरू घंटाल रूप

को दिखलाया।"[34] पंडिता रमाबाई ने भी 'धर्म व समाज में स्त्रियों का स्थान' शीर्षक लेख में मनुस्मृति को कठघरे में खड़ा किया और साथ ही रूक्माबाई के मामले पर अपनी राय रखते हुए ब्रिटिश सरकार एवं भारतीय पुरुषों की अलिखित संधि की ओर इशारा किया। हिंदू समाज में पहली बार किसी स्त्री ने अपनी इच्छा के विरूद्ध पति के साथ रहने से इंकार कर दिया। स्त्री के इस निर्णय के विरूद्ध पूरे भारत के दकियानूसी लोग ऐसे खड़े हो गये मानों वे सब एक पुरुष हों और एक साथ उन्होंने उस असहाय स्त्री और उसके महज मुट्ठी भर साथियों को सबक सिखाने के लिए कमर कस ली हो।

भारतीय नवजागरण के इस दौर में जब भद्रवर्गीय पुरुष-सुधारक स्त्री आंदोलन में कलाबाजी एवं स्त्री शिक्षा के नाम पर गलाबाजी करके स्त्रियों को घर में कैद रखने की साज़िश रच रहे थे; तब 'स्त्री-पुरुष तुलना' किताब की लेखिका 'ताराबाई शिंदे' ने उस दौर के भद्रवर्गीय पुरुष सुधारकों के आंदोलन की सीमाओं को न सिर्फ पार किया बल्कि उसकी कड़ी आलोचना भी की। '19वीं सदी के समाज में स्त्री-पुरुष संबंधों के प्रति ताराबाई की आलोचना का अध्ययन करते हुए 'रोजांलिद ओहॅानलेन' इस नतीजे पर पहुँची कि भद्रवर्गीय पुरुषों के सुधार आंदोलन से समाज का चरित्र और ज्यादा ब्राह्मणवादी बना। भद्रवर्गीय पुरुष-सुधारकों के विचार स्त्रियों को नये सिरे से और ज्यादा मर्यादा में बांधते थे। रोजालिंद ने रूढ़िवादी धर्म और समाज के खिलाफ ताराबाई की आलोचना की भाषा को सत्यशोधक की भाषा के समान पाया, लेकिन दोनों में इस महत्वपूर्ण फर्क को भी स्पष्ट किया कि स्त्रियों के पिछड़ेपन के लिए सत्यशोधक समाज जहाँ सिर्फ ब्राह्मणों की आलोचना करता था, ताराबाई ने जाति वर्ण का लिहाज लिए बिना सभी पुरुषों की आलोचना की। अब स्त्रियाँ अपने को पूरी तरह अभिव्यक्त कर रही थीं। अब स्त्रियाँ पुरुषों की आलोचना कर रही थीं। वह पुरुषों द्वारा खड़े किए गए सुधार आंदोलन के सतहीपन और दिखावे को समझ रही थी। ताराबाई शिंदे की स्त्री-चेतना का सबसे महत्वपूर्ण पक्ष उनकी यह समझ है कि भद्रवर्गीय पुरुष ब्रिटिश शासन द्वारा पेश नई शिक्षा और सभ्यता को अपने लिए पूरी तरह हथिया लेना

[34] वीर भारत तलवार, रस्साकशी (सारांश प्रकाशन, हैदराबाद, 2006), पृ.सं. 203-205

चाहते हैं, उसे स्त्रियों तक पहुँचने देना नहीं चाहते। आधुनिक ज्ञान एक शक्ति है। उससे लैस होकर पुरुष खुद को शक्तिशाली बनाना चाहते थे पर स्त्रियों को कमजोर ही रखना चाहते हैं।'[35] ताराबाई शिंदे के इस तरह के विश्लेषण के बाद हिंदी नवजागरण के प्रणेता भारतेंदु समेत भारतीय नवजागरण के कई सुधारक कठघरे में खड़े दिखते हैं; जो स्त्रियों के लिए पुरुष से इतर नैतिक एवं चारित्रिक शिक्षा और लड़कियों के लिए लड़कों से अलग पाठ्यक्रम के लिए सरकार के सामने प्रस्ताव रखते हैं।

औपनिवेशिक भारत में स्त्रियाँ स्वतंत्र रूप से विचार रख रही थी। 'औरतों की असहमति' के बाजवूद कुछ औरतें शिक्षित हो रही थी। स्त्रियों की साक्षरता के पारंपरिक वर्जनाओं के बीच स्त्रियाँ लिख-पढ़ रही थी। आनंदी बाई जोशी की तरह आधुनिक ज्ञान-विज्ञान अर्जित कर देश की पहली महिला डॉक्टर बन रही थी। 'काशी बाई कानिटकर' की तरह लेखिका बन रही थी और पुरुषों की तरह ही बौद्धिक विमर्श में शामिल हो रही थी। अब औरतों द्वारा औरतों के लिए पत्रिकाएँ निकाली जा रही थी जिनमें लिखने वालों में ज्यादातर औरतें ही थी। हाल 'में पूर्वा भारद्वाज' के संपादन में निरंतर संस्था ने 'कलामे निस्वाँ' में मुसलमान औरतों का कलाम संग्रहित किया है। ये कलाम पुरानी उर्दू पत्रिकाओं में छपी उनकी रचनाएँ हैं। कलामे निस्वाँ की जानकारी देते हुए संपादक कहती हैं कि- ''यहाँ संकलित मज़मूनों के आधार पर औरतों के लेखन की व्यापक प्रवृत्तियों पर हमारी राय यह बन पाई कि लगभग हर विधा में औरतें लिख रही थीं- लेख, कहानी, कविता, धारावाहिक, सवाल-जवाब, साक्षात्कार, समीक्षा टिप्पणी। संपादकीय भी और राजनीतिक विश्लेषण भी। रिसालों के सैकड़ों सफे देखने के बाद हमारा ध्यान इस बात पर भी गया कि औरतों के लेखन में कहानियाँ और कविताएँ तुलनात्मक रूप से कम हैं। मुमकिन है कि तालीम और तरबियत के मकसद से निकाली गई इन पत्रिकाओं में विचार प्रधान लेखों को ही ज्यादा तवज्जों दी गयी हो।''[36] इन औरतों ने 'हैदराबाद से इंग्लिस्तान का सफर' करवाया तो वहीं

---

[35] वीर भारत तलवार, रस्साकशी (सारांश प्रकाशन, हैदराबाद, 2006), पृ.सं. 211-213

[36] सं. पूर्वा भारद्वाज, कलामे निस्वां (निरंतर, दिल्ली, 2015) , अपनी बात से

'वादिए काफ़रिस्तान' की दिलचस्प यात्रा भी करवायी जहाँ पर लेखिका वाकई में खुद भी नहीं जा सकी थी- ''इस वादी के हालात मालूम करने का मुझे बहुत शौक था। रास्ता बहुत दुश्वारगुजार है। इसलिए औरतों का जाना बहुत मुश्किल है। हमारी तो इस वादी को देखने की ख्वाहिश तिश्नए तकमील बनी रही और शायद आइंदा भी रहे। मगर मेरे बहनोई पिछले दिनों इस वादी के सैर से वापस आए हैं। उन्होंने इस छुपी हुई नन्हीं सी वादी के हालात सुनाए जो इस्मती बहनों की दिलचस्पी के लिए कलमबंद करती हूँ।''[37] इन्होंने 'रानी मीराबाई' से लेकर 'व्हाइट हाउस की नई खातून' के रूप में जनरल आइज़न हावर की बीबी मेमी से भी परिचय करवाया है। 'ज़नाना लिबास' से लेकर 'पर्दा और तालीम' जैसे गंभीर विषय को इन्होंने क़लमबंद किया है। औरतों की तालीम और सोसाइटी में उनकी हैसियत पर भी इनकी नजर रही है। इन्हें हिंदुस्तान क्या, इंग्लैंड की औरतों के आंदोलन की भी खबर थी। ''इंग्लिस्तान में औरतों की हालत भेड़ बकरियों से किसी तरह अच्छी न थी और शौहर की बीवी पर बिल्कुल ऐसे हुकूक़ मुआशरती और कानूनी तौर पर हासिल थे जो क़ी जमाना हमलोगों को जानवरों पर हासिल है।''[38]

हम पाते हैं कि औपनिवेशिक भारत में पहली बार स्त्रियाँ स्वतंत्र चेता मानुष की तरह सोच समझ रही थी। अपनी राय रख रही थीं और सबसे महत्वपूर्ण यह है कि वो पुरुष सत्ता की वर्चस्ववादी नीति को पूरी तरह समझ चुकी थी।

---

[37] सं. पूर्वा भारद्वाज, कलामे निस्वां (निरंतर, दिल्ली, 2015) , पृ.सं.21

[38] सं. पूर्वा भारद्वाज, कलामे निस्वां (निरंतर, दिल्ली, 2015) , पृ.सं.186

उत्तरमध्यकालीन प्रमुख स्त्री रचनाकारों की कविताओं का विश्लेषण

हिन्दी की साहित्यिक आलोचना ने उत्तरमध्यकालीन कविता को हमेशा संशय भरी नजर से ही देखा है। ''वाग्धारा बंधी हुई नालियों में प्रवाहित होने लगी', 'भाषा को वह स्थिरता न प्राप्त हो सकी जो किसी साहित्यिक भाषा के लिए आवश्यक है।''[1] उत्तरमध्यकालीन कवियों पर आरोप लगाया जाता है कि- ''भक्तिकाल के भक्त कवियों को 'सीकरी' से कोई काम न था पर रीतिकालीन (उत्तरमध्यकालीन) कवियों का 'सीकरी' के बिना 'सरै न एकौ काम' रीतिकालीन कवि सचेत रूप से कविता लिख रहे थे जो उनके जीविकोपार्जन से जुड़ी हुई थीं, कवि लोग कविता के सौदागर थे।''[2] आदि-आदि। इन्हीं वजहों से उत्तरमध्यकालीन कविता पर बात करते हुए इतिहासकार, आलोचक सभी नाक-भौं सिकोड़ते हैं और कविता को दरबारी काव्य कहकर दरबार के परिप्रेक्ष्य में ही उसका मूल्यांकन करते हैं, आलोचना करते हैं। यह सही है कि उत्तरमध्यकाल में कविता मंदिरों एवं मठों से निकलकर दरबार में आती है लेकिन यह कहना कहाँ तक उचित होगा कि कविता दरबार में आते ही दूषित होने लगी? दरबार में कविता जीवन का उद्दाम राग पा रही थी। मंदिरों और मठों में मोक्ष तो है लेकिन मनुष्य की आदिम आकांक्षा के लिए कोई जगह नहीं है। बार-बार मनुष्य की आदिमता को दबाया जाता है। मठ में कई तरह की बंदिशें हैं, पाबंदियाँ हैं, वर्जनाएँ हैं। उत्तरमध्यकालीन कवियों पर यह भी आरोप लगाया जाता है कि ये कवि, कविता जीविकोपार्जन के लिए सायास लिख रहे थे। अगर देखा जाए तो मध्यकालीन कविता में भी सायास लेखन का विपुल साहित्य मौजूद है। इस काल में भी कवियों ने गुरू-वंदना, अष्टयाम-प्रार्थना, विभिन्न भावों में भक्ति, आराध्य देव की विधिवत स्नान-चंदन-पूजा आदि विषयों पर सायास लेखन किया। घिघियाते सूर को वल्लभाचार्य द्वारा किया गया मार्गदर्शन इस बात की ओर इशारा भी है कि मंदिरों, मठों और विभिन्न संप्रदायों, खानकाहों में भी कविता लेखन विशिष्ट शैली में होता था और कई बार कवियों को वो विशिष्ट शैली सायास अपनानी होती थी जिस कारण उनकी कविताई कमजोर मालूम

[1] आचार्य रामचंद्र शुक्ल, हिन्दी साहित्य का इतिहास (विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी 2013), पृ.सं. 154-155

[2] बच्चन सिंह, हिन्दी साहित्य का दूसरा इतिहास (राधाकृष्ण प्रकाशन, दिल्ली, 2013), पृ.सं. 181

पड़ती थी। जहाँ तक जीविकोपार्जन का सवाल है, हाल-फिलहाल हुए तथ्यान्वेषण एवं खोज रिपोर्टों से यह साबित हो चुका है कि मध्यकाल में मंदिरों एवं मठों को राजाओं की ओर से अकूत धन-संपदा दान में मिलती रही थी। इन्होंने अपनी खुद की सीकरी बना ली थी और आगे चलकर इन्हीं मंदिरों व मठों में भोग-विलास को बढ़ावा मिला जो कि पहले अध्याय में हम देख चुके हैं। वाकई में जीविकोपार्जन के लिए कविताएँ लिखी जा रही थीं। काव्य-हेतु, काव्य-प्रयोजन बदल रहा था। इस बदलाव का दुख तत्कालीन कवि भिखारीदास की उस उक्ति में देखा जा सकता है जिसमें वे कहते हैं- ''आगे के सुकवि रीझि हैं तौ कविताई...।'' इसी तरह का दुख अन्य कवियों के यहाँ भी देखने को मिल जाता है- 'नर को बखान करै तऊ न अरथ सरै, ऐसी कविताई को बहाय दीजै पानी में।' उत्तरमध्यकाल के अंतिम दिनों में उर्दू के महान शायर मिर्ज़ा असद उल्ला बेग खाँ 'ग़ालिब' की व्यथा देखने लायक है -

''ग़ालिब वज़ीकाख्वार हो दो शाह को दुआ।
वे दिन गए कहते थे नौकर नहीं हैं हम।।''[3]

मान-अपमान को सहते हुए कविगण सामंतों-सरदारों के प्रीत्यर्थ कविताएँ लिखते रहे। यह उनकी मजबूरी थी। मजबूरी और संक्रमण के इसी दौर में उस समाज के सामूहिक अवचेतन का निर्माण हो रहा था जिसका प्रतिफलन उस समाज की कलाओं में दिखता है।

इस काल के संदर्भ में यह भी कहा जाता है कि इस काल में काव्य-कला का पतन हुआ, कवियों ने शब्दों को तोड़-मरोड़कर भाषा में गड़बड़ी पैदा की, भाषा को वह स्थिरता न प्राप्त हो सकी, जो किसी साहित्यिक भाषा के लिए आवश्यक है। इस तरह के आरोपों को सुनने के बाद एक सवाल कौंधता है कि जब समाज में, संस्कृति में, राजनीति में, धर्म में स्थिरता नहीं है तो भाषा में स्थिरता खोजना कहाँ तक उचित होगा? जहाँ तक सवाल है काव्य-कला के पतन का तो वहाँ आचार्य रामचंद्र शुक्ल के उस पहले वाक्य की बात करें जो उन्होंने हिन्दी साहित्य के उत्तरमध्यकाल पर बात करते हुए लिखा था कि- 'हिन्दी काव्य अब पूर्ण प्रौढ़ता को पहुँच गया था।' तब यह कहना बेईमानी होगी कि काव्य-कला का पतन हुआ।

[3] बच्चन सिंह, हिन्दी साहित्य का दूसरा इतिहास (राधाकृष्ण प्रकाशन, दिल्ली, 2013), पृ.सं. 182

इस समय के कवियों ने विभिन्न काव्यांगों के शास्त्रीय पद्धति का निरूपण किया उन्होंने कविता के माध्यम से रसों और अलंकारों के बहुत ही सरस और हृदयग्राही उदाहरण प्रस्तुत किया। फिर भी इस तरह का आरोप क्यों? दरअसल जिस समय हिन्दी आलोचना फल-फूल रही थी, उस समय महावीर प्रसाद द्विवेदी के नेतृत्व में भाषा-सुधार आंदोलन चल रहा था। महावीर प्रसाद द्विवेदी और उनके समकालीन भाषा में किसी भी प्रकार की गड़बड़ी को बर्दाश्त करने को तैयार नहीं थे। ये लोग शब्दों के स्थिर और शुद्ध रूपों के हिमायती थे जबकि भाषा बहता नीर है जो नदी की तरह दोनों पाटों को समान रूप से सींचते हुए लगातार बहता जाता है। साथ ही ये लोग राजनैतिक लाभ-लोभ के मद्देनजर भाषा में हिन्दुत्व को ढूंढकर भाषा को इस्लामी प्रभाव से मुक्त करते हुए खड़ी बोली को परिनिष्ठ और संस्कृतनिष्ठ बनाने में जुटे हुए थे। इस महत्वाकांक्षी राजनैतिक आंदोलन में इन्होंने नैतिकता-अनैतिकता, श्लील-अश्लील आदि का एक विशिष्ट पैमाना बना रखा था, जिसका पूरा प्रभाव उत्तरमध्यकाल या यूँ कहें कि रीतिकाल की आलोचना पर पड़ा। इन्होंने बकायदा रीतिवाद-विरोधी अभियान चलाया। जहाँ तक रीतिकालीन कविता के काव्य कला के निष्पक्ष मूल्यांकन की बात है वो भी पक्षपात रहित नहीं है। इस समय की कविता का मूल्यांकन रस सिद्धांत, साधरणीकरण, भावक, भावन-व्यापार आदि के परिप्रेक्ष्य में ही किया गया। आचार्य रामचंद्र शुक्ल हों या डॉ. नगेन्द्र दोनों रसवादी आचार्यों ने काव्य कला के मूल्यांकन में रस को ही तरजीह दी।

उत्तरमध्यकालीन काव्य के मूल्यांकन में हिन्दी आलोचना का पक्षपात तो दिखता ही है, साथ ही घोर अवैज्ञानिक पद्धति भी दिखाई पड़ती है। जो आलोचना एक सुर में दरबार एवं दरबारियों को खरी-खोटी सुना रही थी, उस आलोचना का ध्यान कभी दरबार एवं दरबारियों की सुरुचिसंपन्नता पर नहीं गया। 'अली कली ही सों बंध्यो, आगे कौन हवाल' प्रकरण पर राजा के भोग विलास में डूबे रहने की बात तो खूब की जाती है लेकिन कभी उस पक्ष पर ध्यान नहीं दिया जाता है कि सुरुचिसंपन्न राजा ने कवि के लक्ष्यार्थ और व्यंग्यार्थ को तुरंत समझा। दरबार सुरुचिसंपन्न था तभी तो सारी कलाओं का इस काल में चरम विकास हुआ। कलाकारों का सही मूल्यांकन राजा की पारखी नजर ने किया। जब कई आलोचकों के आरोप से यह ध्वनित होता है कि कविता, आश्रयदाताओं की काम भावनाओं को उद्दीप्त

करने के लिए लिखी जा रही थी, तब हिन्दी कविता के भक्तिकाल से रीतिकाल में रूपांतरण के संदर्भ में लिखा गया रामस्वरूप चतुर्वेदी का कथन महत्वपूर्ण हो जाता है- ''कालांतर में राधा-कृष्ण के चरित्र अपने रूप में हट गए और वे महज दांपत्य जीवन के प्रतीक रूप में अवशिष्ट रह गये। प्रेम और भक्ति की संपृक्त अनुभूति में से भक्ति क्रमश: क्षीण पड़ती गयी और प्रेम का शृंगारिक रूप केन्द्र में आया। भक्ति काल के रीति-काल में रूपांतरण की यही प्रक्रिया है।''[4] रीतिकालीन कविता का स्वरूप प्राय: सर्वत्र ही गार्हस्थिक है। इस समय के काव्य की मूल प्रेरणा ऐहिक है। अत: कविता पर इस तरह का आरोप बेबुनियाद है। थोड़ा लीक से हटकर बात करें तो हम देखते हैं कि तमाम दार्शनिक रूझान सूफियाना मिजाज के बावजूद उर्दू के महान शायर मीर और गालिब भी निजी अनुभूतियों का ऐहिक संसार ही रच रहे थे। अक्सर हिन्दी आलोचना उत्तरमध्यकाल पर बात करते हुए उर्दू कविता की महान परंपरा को अलगाकर बात करता है। नजीर अकराबादी जैसे असाधारण कवि को छोड़कर उत्तरमध्यकालीन काव्य का मूल्यांकन अधूरा ही होगा।

हिन्दी आलोचना ने संपूर्ण उत्तरमध्यकालीन काव्य का मूल्यांकन भक्तिकाव्य के परिप्रेक्ष्य में किया है। कहने का आशय यह है कि आलोचकों ने रीतिकाल की कविता को भक्ति काव्य के चश्मे से देखा है। रीतिकालीन शृंगारपरक, अलंकार प्रधान रचनाओं का मूल्यांकन भक्तिकाव्य के आधार पर किया जाना कहाँ तक न्यायोचित होगा? ऐसा नहीं है कि इस काल में सिर्फ शृंगारपरक और अलंकार प्रधान रचनाएँ ही हुई। नवीन शोध से यह बात सामने आयी है कि इस समय वीर काव्य और नीतिपरक रचनाओं की भी सुदृढ़ परंपरा रही थी। उत्तरमध्यकालीन काव्य पर यह आरोप लगाया जाता है कि इस समय के काव्य का वाबस्ता राजनैतिक, सामाजिक, सांस्कृतिक सरोकारों से नहीं था बस कविता मनोरंजन के लिए लिखी जा रही थी। किंतु जब हम गहराई में उतरते हैं तो देखते हैं कि रीतिकाल के बड़े और चर्चित कवि भूषण, केशवदास, पद्माकर आदि से लेकर गौण और अल्पख्याति प्राप्त कई कवियों ने आश्रयदाता के यशगान के लिए ही सही लेकिन राजनैतिक दांव पेंच को समझने की कोशिश की है। बहुत संभव है उत्तर आधुनिकता के इस दौर में उन तमाम ग्रंथों के शोधपरक अध्ययन के बाद कुछ

[4] रामस्वरूप चतुर्वेदी, हिन्दी साहित्य और संवेदना का विकास (लोकभारती प्रकाशन, दिल्ली 2010), पृ.सं. 56

महत्वपूर्ण बातें निकलकर सामने आए। इस दिशा में अभी तक मेरी जानकारी में कोई शोध कार्य नहीं हुआ है। इस तरह का शोध उत्तरमध्यकालीन काव्य के मिथ को तोड़ेगा। इस समय की रचनाओं में जहाँ तक सामाजिक और सांस्कृतिक सरोकारों की बात आती है वहाँ हम पाते हैं कि इस समय मौजूद अनेकानेक असनातनी संप्रदाय सामाजिक एवं सांस्कृतिक मूल्यों में बेहतरी के लिए प्रतिबद्ध थे।

उत्तर प्रदेश में सतनामी, अप्पापंथी और शिवनारायण संप्रदाय, बंगाल में कर्ताबाज और बलरागी, राजस्थान में चरणदासी, आंध्र प्रदेश में वीरबहम तो वहीं मध्य प्रदेश और गुजरात में प्रणामी नामक सनातनी संप्रदाय भी 'शाबर ऊपर मानुष सत्य' के सैद्धांतिकी के अनुकूल समाज सुधार में संलग्न थे। संख्या की दृष्टि से भी उन लोगों का महत्व कोई मामूली नहीं था। इनमें से अधिकांश संप्रदायों के अनुयायियों की संख्या बीस से तीस हजार तक थी। निर्गुण-उपासना, योग-साधना, योग-अंगों का महत्व प्रतिपादन, साधु-संगति का स्वीकार, वैराग्य मार्ग का संकल्प और सदाचार के तत्वों की प्रतिष्ठापना आदि इनकी वाणी का कथ्य है। कहा जा सकता है कि कबीर की ज्ञानमयी और सुधारवादी भक्ति रीतिकालीन संतों में भी ज्यों-की-त्यों बनी रही। कई जगहों पर रीतिकालीन संत-दरियासाहब (दरिया ग्रंथावली), चरणदास (चरणदास की वाणी), जगजीवन साहब (जगजीवन साहब की बानी), गरीबदास (ग़रीबदास की बानी) पलटू साहब (पलटू साहब की बानी), तुलसी साहब (घर रामायण), गुरु तेगबहादुर (आदि ग्रंथ साहब में संकलित पद), सहजोबाई (सहज प्रकाश), बुल्लेशाह आदि की वाणी पूर्व मध्यकालीन संतों (कबीर, नानक, रैदास आदि) की अपेक्षा ज्यादा लाउड और रेडिकल मालूम पड़ती है। अत: हम उत्तरमध्यकालीन काव्य के संपूर्ण मूल्यांकन में इन संतों की बानियों को छोड़ नहीं सकते हैं जबकि हिन्दी साहित्य का इतिहास और हिन्दी आलोचना ने उत्तरमध्यकालीन काव्य के मूल्यांकन में संतों को पर्दे के पीछे रखा और संपूर्ण उत्तरमध्यकालीन काव्य पर समाज की उपेक्षा का आरोप लगाते हुए, इस काव्य को दरबारी, भोगवादी, सामंती जीवन का आख्यान कहा।

उत्तरमध्यकाल के संदर्भ में साहित्येतिहास ने सिर्फ संतों को ही अनदेखा नहीं किया वरन् स्त्री रचनाकारों पर भी चुप्पी साधे रहे। उत्तरमध्यकाल पर लिखते हुए जब आचार्य रामचन्द्र शुक्ल 'कवि-वृत्त-संग्रह' तैयार कर रहे थे तब यह देखकर हैरानी होती है कि एक भी स्त्री रचनाकार का जिक्र उन्होंने

नहीं किया। गौरतलब हो कि शुक्ल जी ने उत्तरमध्यकाल पर लिखते हुए 110 पेज खर्च किए और लगभग 110 के आस-पास छोटे-बड़े पुरुष रचनाकारों का जिक्र किया। तब हम सोचने पर मजबूर हो जाते हैं कि इतने ढेर सारे पुरुष रचनाकारों का जिक्र करने के बाद आचार्य शुक्ल ने एक भी स्त्री रचनाकार का जिक्र क्यों नहीं किया। जबकि उत्तरमध्यकाल के दौरान कई स्त्री रचनाकार लिख पढ़ रही थी। बाद के इतिहासकारों ने भी आचार्य शुक्ल का ही अनुसरण किया और इतिहास ने इन उपेक्षिताओं को अंधेरे में ही रखा। आजादी के बाद अक्टूबर 1952 में दिल्ली विश्वविद्यालय के हिन्दी विभाग ने हिन्दी अनुसंधान परिषद की स्थापना की जिसने गवेषणात्मक अनुशीलन एवं उपलब्ध साहित्य के प्रकाशन का दायित्व लिया। परिषद की इसी योजना के तहत पहले पहल सन् 1953 में डॉ. सावित्री सिन्हा ने 'मध्यकालीन हिन्दी कवयित्रियों' को प्रकाश में लाया। इस ग्रंथ के प्रकाशित होने के बावजूद भी हिन्दी साहित्येतिहास में स्त्री रचनाकारों को लेकर घोर सन्नाटा ही रहा। पूरा साहित्यिक समुदाय स्त्री रचनाकारों को लेकर एक अजीब किस्म की चुप्पी साधे बैठा था। इतिहास में उपेक्षा की इस राजनीति को बीसवीं सदी के अंतिम दशकों में कई स्त्री लेखिका ने समझने की कोशिश की । सुमन राजे ने 'इतिहास में स्त्री' को देखते हुए 2013 में हिन्दी साहित्य का आधा इतिहास लिखा। 21वीं सदी में कई विद्वानों ने नारी संत परंपरा की भी खोज की। 2011 में बलदेव वंशी ने 'भारतीय नारी संत परंपरा' में 38 नारी संतों को जगह दी और उनका परिचय हिन्दी साहित्य के सुधी पाठकों के सामने रखा।

जब लेखक और लेखिका स्त्री रचनाकारों को प्रकाश में ला रहे थे तब अचानक यह तथ्य कौंधा कि जब-जब इतिहास में नवजागरण घटित हुए हैं, महिला रचनाकारों का एक पूरा समूह सतह पर आया है। भारतीय सांस्कृतिक इतिहास में बुद्धकाल से लेकर संगम युग को देखें, भक्ति आंदोलन में नारी संतों के अमूल्य योगदान को देखें तो वहीं भारतीय नवजागरण के काल में हम देख चुके हैं कि इस समय स्त्रियों ने हर विधा में अपनी मुकम्मल उपस्थिति दर्ज की। उत्तरमध्यकाल की बात करें तो हम देखते हैं कि इस काल में भी काफी स्त्री रचनाकारों ने अपनी उपस्थिति दर्ज करवाई। हम देखते हैं कि इस काल में एक कुलीन व भद्र वर्ग तैयार हो चुका था जो अपनी दैनंदिन जीवन शैली और सामाजिक हैसियत के हिसाब से स्त्रियों को शिक्षा दे रहा था। ये वर्ग अपने रसूख को बचाए और बनाए रखने के लिए अपने सामंती ढांचे

के अंदर ही स्त्रियों को शिक्षित कर रहा था जिससे उनकी पारिवारिक एवं सामाजिक जीवन शैली भी उन्नत हो। यहाँ तक आते-आते इस वर्ग को लगने लगा कि अपने ओहदे एवं वरीयता क्रम को बचाए रखने के लिए घर की स्त्रियों का भी शिक्षित होना जरूरी है। अभी तक स्त्रियों की शिक्षा-दीक्षा धर्माश्रय में मंदिरों व मठों तक ही सीमित थी। हरम और अंत:पुर की स्त्रियों को भी धार्मिक शिक्षा दी जाती थी। उत्तरमध्यकाल में पहली बार ऐसा देखा गया कि स्त्रियाँ पुरुष रचनाकारों की तरह ही कविता लिख रही थी। दरअसल उन्हें अब काव्यशास्त्र की शिक्षा भी दी जा रही थी। इसी कारण वो पुरुष रचनाकारों के सामने उन्हीं की भाषा और उन्हीं की शैली में उनसे होड़ लेने के लिए कविता कर रही थी। आचार्य शुक्ल ने जिस तरह शेख रंगरेजिन का परिचय दिया है उससे यह आशय भी निकाला जा सकता है कि शेख रंगरेजिन ने दोहा पूरा करके यह बात बताने की कोशिश की है कि देखो यह मेरी रचना है और मैं भी बेहतर लिख सकती हूँ।

आइए उत्तरमध्यकाल के कुछ स्त्री रचनाकारों से मुखातिब हो। अध्ययन की सुविधा के हिसाब से मैंने इन स्त्री रचनाकारों को निर्गुणिया संत, कृष्ण काव्य, राम काव्य, शृंगार काव्य और नीतिकाव्य एवं अन्य फुटकल प्रकरणों में बांटा है। हम देखेंगे कि किस तरह निर्गुणिया नारी संतों ने संत परंपरा को आगे बढ़ाया तो कृष्ण और रामकाव्य से संबंधित स्त्री रचनाकार अपनी परंपरा में किस स्थान को पाती हैं। हम देखेंगे कि शृंगार काव्य की स्त्री रचनाकार रीतिकालीन काव्य-परंपरा से किस तरह होड़ लेती हुई खुद को काव्य रसिकों के बीच साबित करने के लिए प्रयत्नशील हैं। ये राम, कृष्ण, सगुण, निर्गुण का गीत गाते हुए भी दिखेंगी तो चारण काव्य के माध्यम से आश्रयदाता को खुश करने का भी प्रयास करते हुए दिख जाएगी। आइए देखते हैं।

निर्गुण धारा : ज्ञानाश्रयी शाखा की संत कवयित्रियाँ

निर्गुण धारा के ज्ञानाश्रयी शाखा से संबंधित कवि एवं कवयित्रियाँ संत कहलाए। निर्गुण पंथ विचारधारा के स्तर पर बेहद ही प्रगतिशील पंथ था, जिसने मनुष्यत्व की समान भावना को आगे कर निम्न श्रेणी की जनता में आत्मगौरव का भाव जगाया और भक्ति के ऊँचे-से-ऊँचे सोपान की ओर बढ़ने के लिए बढ़ावा दिया। निर्गुण पंथ बेहद ही जनतांत्रिक मूल्यों को अपने साथ लेकर आगे बढ़ रहा था।

बौद्धों के सामाजिक न्याय सिद्धांत से प्रभावित इस पंथ ने सिद्धो-नाथों से होते हुए तमाम सुधारवादी प्रक्रिया से गुजरते हुए 12वीं सदी में अपना आकार ग्रहण किया। महाराष्ट्र में नामदेव और मध्य देश में रामानंद ने भक्ति-मार्ग के भीतर इस भाव का सूत्रपात किया जिसमें ऊँच-नीच और जाति-पांति के भाव का त्याग है तो वहीं ईश्वर की भक्ति के लिए हर मनुष्य समान रूप से अधिकारी है जो कि अभी तक नहीं के बराबर था। ''इन संतों के ईश्वर ज्ञानस्वरूप और प्रेमस्वरूप ही रहे। धर्मसवरूप न हो पाये।''[5] ये संत धर्मतंत्र के उस दायरे में नहीं आते थे, जिसमें रहकर इस तंत्र के मठाधीशों ने साज़िशन स्त्रियों और दलितों का घोर शोषण किया। बहरहाल निर्गुण पंथ चल निकला, जिसमें कबीर जैसा बीहड़ क्रांतिकारी कवि पैदा हुआ तो वहीं रैदास, नानक, दादू, मलूक आदि अनेक संत अपने अलग तेवर और क्रांतिधर्मिता के साथ समाज सुधार के कार्य में जुटे रहे। इस पंथ में शुरू से ही स्त्रियों को भी एक जगह दी गयी। रामानंद की पाठशाला में कबीर, रैदास, धन्ना, पीपा, सेन आदि के साथ सुरसदी और पद्मावती भी शिक्षित हो रही थीं। हम जानते हैं कि भारत में नारी संतों की एक परंपरा रही है। बलदेव वंशी ने अपनी पुस्तक 'भारतीय नारी संत परंपरा' में 38 नारी संतों का जिक्र किया है। उत्तरमध्यकाल में निर्गुण धारा के ज्ञानाश्रयी शाखा से संबंधित दो संत का जिक्र मिलता है। सहजोबाई और दयाबाई, ये दोनों चरणदासी पंथ (शुक संप्रदाय) से संबंधित हैं।

सहजोबाई

उत्तर भारतीय संत-परंपरा के प्रचारक महंत श्री चरणदास (1703-1782) के प्रख्यात बावन शिष्यों में सहजोबाई की गणना प्रथम स्थान पर की जाती है। सहजोबाई का जन्म संवत् 1782 की श्रावण-शुक्ला पंचमी (15 जुलाई 1724) रविवार को पिता हरिप्रसाद जी और माता अनूपी देवी के दूसर (वैश्य) परिवार में हुआ था। सहजोबाई अपने चार भाइयों (राधाकृष्ण, गंगविष्णु, दासकुंवर, हरिनारायण) की इकलौती लाड़ली बहन थी। प्रारंभिक शिक्षा-दीक्षा प्राप्त कर लेने के पश्चात, लगभग बारह वर्ष की अवस्था में सहजो के विवाह की योजना बनी। कहा जाता है कि शादी के अवसर पर सहजो-दंपत्ति को आशीर्वाद देने के लिए उनके मामा के लड़के रणजीत, जो तब तक दिल्ली के संत चरणदास के नाम से

[5] आचार्य रामचंद्र शुक्ल, हिन्दी साहित्य का इतिहास (विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी 2013), पृ.सं. 41

ख्याति अर्जित कर चुके थे, से अनुरोध किया गया। दुलहिन-वेश में सजीं-धजी सहजो को देखकर चरणदास ने उसे संबोधित करते हुए कहा-

‘‘सहजो तनिक सुहाग पर, कहा गुदाए सीस।

मरना है रहना नहीं, जाने बिस्वे बीस।।’’[6]

ऐसा कहा जाता है कि उक्त शब्द सुनकर सहजो की चेतना पर प्रहार हुआ। उसने कहा मैं विवाह नहीं करूँगी। प्रभु-भक्ति करूँगी। तभी बाराती रोते हुए पहुंचे और बताया कि आतिशबाजी से अकस्मात घोड़ी भड़ककर भागी और वृक्ष से टकरा गयी जिससे वर की मृत्यु हो गयी। इस दुखद घटना से शोकाकुल सहजो में वैराग्य उत्पन्न हुआ और उन्होंने चरणदास का शिष्यत्व ग्रहण किया और गुरु देव के चरणों में बैठकर आध्यात्मिक साहित्य-साधना में लीन हो गई। ‘‘सहजोबाई की आध्यात्मिक उपलब्धियों से अभिभूत होकर मुगल बादशाह शाहआलम द्वितीय ने 1769 में उन्हें 1100 स्वर्ण-मुद्राएँ और समूचे बंथला (मेरठ अंचल, उत्तर प्रदेश) नामक गाँव सहित नरेला, बादली, मादीपुर, दहीरपुर भलस्ता, जहाँगीरपुरी और निरंकारी कॉलोनी आदि गाँवों की आंशिक जागीर भेंट करके सम्मानित किया। 1782 में गुरु चरणदास जी के मरणोपरांत सहजो लगभग 23 वर्षों तक गुरु-गद्दी पर आसीन रहीं। इस अवधि में उन्होंने अपने आठ शिष्यों (श्याम विलास, कर्तानन्द अगमदास निर्मोही, गुरु निवास, राम प्रसाद, संत हजूरी, हरनाम दास रघुनाथ सनेही) और दो शिष्याओं (लक्ष्मीबाई, सुमतिबाई) को भगवद् भक्ति प्राचारार्थ देश देशांतरों में भेजा, जिन्होंने स्वयं तो धर्मस्थल स्थापित करके अपने धर्म का प्रचार-प्रसार किया ही, अपने शिष्यों-प्रशिष्यों को भी यह दायित्व सौंप दिया। अपने कार्यकाल में सहजोबाई ने रामतें (धार्मिक यात्रा) के माध्यम से आध्यात्मिक उन्नयन, जन-जागरण तथा समाजोन्नति का महनीय कार्य किया और चरणदासी संप्रदाय को शिखर पर पहुँचाकर संवत् 1862 की माघ-शुक्ला पंचमी (24 जनवरी 1805) को अपने पार्थिव शरीर का परित्याग कर दिया। वर्तमान में गद्दी सहजोबाई जी का प्रमुख केन्द्र 3191-94 मुहल्ला दस्सान्, हौज काज़ी, दिल्ली-110006 में है।’’[7]

---

[6] सं. उषा लाल, सहजोबाई (साहित्य अकादमी, दिल्ली, 2012), पृ.सं. 7

[7] सं. उषा लाल, सहजोबाई (साहित्य अकादमी, दिल्ली, 2012), पृ.सं. 8-9

सहजोबाई के लिखे हुए हस्तलिखित ग्रंथों की प्रतिलिपियों का उल्लेख नागरी-प्रचारिणी सभा की खोज-रिपोर्ट में है। चरणदास और सहजो का एक संयुक्त हस्तलिखित ग्रंथ पंजाब विश्वविद्यालय के संग्रहालय में है। इसकी लिपि फारसी है। इस हस्तलिखित ग्रंथ के आरंभ और अंत में चरणदास के नाम की मुद्रा अंकित है। चरणदास के ग्रंथ 'ज्ञान सर्वोदय', 'ब्रह्मसागर' तथा 'शब्द ग्रंथ' के बाद सहजोबाई के कुछ पद संकलित हैं। इनकी संख्या चालीस है। हस्तलिखित प्रति का हस्तलेख स्वयं चरणदास द्वारा किया हुआ जान पड़ता है। सहजोबाई का लिखा हुआ 'सहज प्रकाश' नामक ग्रंथ प्राप्त है। 'सहज प्रकाश' का उल्लेख श्री मोहन सिंह दीवान ने अपने पंजाबी साहित्य के इतिहास में किया है। अंत:साक्ष्य से यह स्पष्ट है कि इस ग्रंथ की रचना-प्रक्रिया संवत् 1800 (सन् 1743) में फाल्गुन मास की शुक्ला अष्टमी, बुधवार को दिल्ली के परीक्षितपुर नामक स्थान पर संपन्न हुई थी। उपलब्ध साक्ष्यों के अनुसार सहज प्रकाश का सर्वप्रथम प्रकाशन 'सरदार उमराव सिंह शेरगिल जी के सौजन्य से', मेसर्स खेमराज श्रीकृष्णदास बंबई द्वारा 1838 में किया गया। तत्पश्चात 1913 में बेलवेडियर स्टीम प्रिंटिंग वर्क्स, इलाहाबाद द्वारा इसका प्रकाशन हुआ, जो समय-समय पर पुनर्मुद्रित होता चला आ रहा है। सहजप्रकाश के प्रकाशन की उपर्युक्त परंपरा को अजस्र रखने एवं उसके नवमूल्यांकन को ध्यान में रखते हुए महंत घनश्यामदास (गद्दी संत-शिरोमणि सहजोबाई जी, 3191-94, मुहल्ला दस्सान्, हौज काज़ी, दिल्ली-110006) ने गुरु पदभार संभालते ही सहज प्रकाश के सर्वशुद्ध प्रकाशन का बीड़ा उठाया। फलस्वरूप फरवरी 2000 ई. में महंत घनश्यामदास द्वारा संपादित-प्रकाशित सहजप्रकाश ही विद्वानों द्वारा मान्यता प्राप्त है। सामान्य पुरस्कार के लगभग सौ पृष्ठों में समाहित सहजप्रकाश में निम्न विषयों पर सहजोबाई ने लिखा है।

(1) गुरू-वंदना, गुरू महिमा।

(2) साधु लक्षण, साध वचन, साधु महिमा।

(3) अवस्था वर्णन

i. बाल्यावस्था

ii. युवावस्था

iii. वृद्धावस्था

iv. मरणासन्न-अवस्था

v. काल-मृत्यु

vi. अकाल मृत्यु

(4) अंग-वर्णन

i. नाम अंग

ii. प्रेम का अंग

iii. निर्गुण-सगुण संशय-निवारण अंग-वर्णन

iv. नित्य-अनित्य सांख्यमत-वर्णन

v. अजपा गायत्री-अंग वर्णन

vi. सत वैराग जगत् मिथ्या का अंग

(5) सोलह तिश्य निर्णय

(6) सात वार निर्णय

(7) मिश्रित पद।

सहजोबाई ने अपनी सहज अभिव्यक्ति के लिए दोहा और चौपाई जैसे प्रसिद्ध छंद को चुना। सहजोबाई ने कुंडलिया, छप्पय छंदों तथा मुक्त पदों में भी रचना की और साथ ही कुछ राग आधारित पद की भी रचना की। इन्होंने अपनी रचनाओं में निर्गुण परंपरा को आत्मसात किया। सहजोबाई की भक्ति का लक्ष्य मानव-मन को कामादि विकारों से मुक्त करना है तभी तो सहजप्रकाश के परायण का आशय है 'भागैं सब ही पाप।' सहजोबाई के इष्टदेव निर्गुण और सगुण दोनों हैं। उनके अनुसार निर्गुण ब्रह्म ही संसार में प्रकट होता है और वही विभिन्न लीलाएँ करता है। अयोध्या और ब्रज में, राम-कृष्ण के रूप में अवतरित होकर उसी ने तो अनेकानेक कौतुक किए हैं -

''वही आप परगट भया, ईसर लीला घार।

माहिं अयोध्या और बृज, कौतुक किया अपार।।

x x x x x x x

निर्गुण से सगुण भयो, संत उधारनहार।

सहजो का डंडौत है, ताकूं बारंबार।।''[8]

सहजोबाई ने निर्गुण और सगुण दोनों की कथा कही। उन्होंने विशुद्ध निर्गुणोपासना को कहीं प्रश्रय नहीं दिया, बल्कि निर्गुणोपासना की तुलना में सगुणोपासना को कहीं-अधिक स्वीकार किया है। सहजो ने निर्गुण-सगुण उपासना के साथ नामोपासना पर भी जोर दिया। इनकी रचनाओं से गुजरते हुए यह तथ्य एकदम स्पष्ट हो जाता है कि सहजोबाई ने प्रेमाभक्ति का अवलंब ग्रहण किया है

''योगी पावे योग से, इतनी लहै विचार।

सहजो पायो भक्ति सूं, जाके प्रेम आधार।।''[9]

सहजो की प्रेमा-भक्ति का लक्ष्य जग को प्रभुमय देखते हुए समतामूलक समाज का निर्माण करना है। जहाँ न जाति हो, न वर्ण, छोटे-बड़े का कोई भेद न हो। जहाँ कोई धार्मिक-सांप्रदायिक विवाद न हो।

''प्रेम दिवाने जो भए, जाति वरण गए छूट।

सहजो जग बौरा कहें, लोग गए सब फूट।।

x x x x x x

प्रेम दिवाने जो भए, पलट गयो सब रूप।

सहजो दृष्टि न आवही, कहाँ रंक कहाँ भूप।।''[10]

चरणदासी संप्रदाय श्रीमद्भागवत को ही समस्त वेद-उपनिषदों का सार मानता है और श्रीमद्भागवत धर्म को ही परम धर्म मानता है। इसलिए सहजोबाई कहती है- ''सहजो नौधा भक्ति करीजे, आप तिरो औरन को तारो।'' श्रीमद्भागवत पुराण में नवधा भक्ति के जिन अंगों- श्रवण, कीर्तन, स्मरण, पादसेवन, अर्चन, वंदन, दास्य, सख्य और आत्मनिवेदन की चर्चा की गयी है, सहजोबाई ने उन्हें भी अपनी प्रेमाभक्ति में समाविष्ट किया है।

---

[8] सं. उषा लाल, सहजोबाई (साहित्य अकादमी, दिल्ली, 2012), पृ.सं. 35

[9] सं. उषा लाल, सहजोबाई (साहित्य अकादमी, दिल्ली, 2012), पृ.सं. 16

[10] सं. उषा लाल, सहजोबाई (साहित्य अकादमी, दिल्ली, 2012), पृ.सं. 16

सहजोबाई की गुरू भक्ति अनेकानेक कथा-किंवदंतियों के साथ, जगजाहिर है। उन्होंने अपने सिद्धांत, व्यवहार और वाणी में गुरू की सर्वोच्च स्थान दिया है। सहजप्रकाश के आरंभ में गुरू चरणों की वंदना चौपाई छंद में देखिए -

''नमो नमो गुरू देवन देवा, नमो नमो गुरू अगम अभेवा।

नमो नमो त्रिभुवन के स्वामी, नमो नमो गुन अंतर्यामी।

नमो नमो गुरू पातक हर्ता, नमो नमो परायण कर्ता।

गति मति छाके आनंद रूपा, नमो नमो गुरू बहा सरूपा।''[11]

सहजोबाई ने राम की अपेक्षा गुरू को अधिक महत्व दिया है। ''राम तजूं पै गुरू न विसारूं/गुरू के सम हरि को न निहारूं। क्योंकि संसार में भेजते समय हरि ने जो पांच चोट (विकार) मेरे साथ भेजे थे उनसे गुरू ने ही तो मुझे छुड़ाया है। हरि ने तो मुझे कौटुंबिक जंजालों में फंसा दिया था, लेकिन गुरू ने उस ममता बेड़ी को काटकर मुझे आजाद कराया-

''हरि ने पांच चोर दिए साथा,

गुरू ने लई छुड़ाय अनाथा ।

हरि ने कुटुंब जाल में गेरी

गुरू ने काटी ममता बेड़ी।''

सहजोबाई अपनी वाणी में गुरू का गुणगान करते हुए नहीं थकतीं। गुरू कौन हो सकता है? शिष्य के लक्षण कौन-कौन से हैं? गुरू और शिष्य का संबंध कैसा होना चाहिए? आदि आदि बिंदुओं पर सहजो की दृष्टि एकदम साफ और स्पष्ट है। सहजो की गुरू विषयक अवधारणा पर संत परंपरा खासकर कबीरदास का जबरदस्त प्रभाव है। उदाहरणस्वरूप कुछ साखियों को देखा जाना चाहिए-

''सब पर्वत स्याही करूँ, घोलूं समुंदर जाय।

धरती का कागज करूँ, गुरू अस्तुति न समाय।।''[12]

---

[11] सं. जगदीश्वर चतुर्वेदी, सुधा सिंह, स्त्री-काव्यधारा (अनामिका पब्लिशर्स, दिल्ली, 2006), पृ.सं. 121

[12] सं. जगदीश्वर चतुर्वेदी, सुधा सिंह, स्त्री-काव्यधारा (अनामिका पब्लिशर्स, दिल्ली, 2006), पृ.सं. 123

x x x x x x

सहजो गुरू रंगरेज सम, सब ही को रंग देत।

चाहे जैसा बसन हो, मैला उजला स्वेत।।[13]

x x x x x x

सहजो शिष ऐसा भला, जैसे माटी मोय ।

आपा सौंप कुम्हार को, जो कुछ होय सो होय।।[14]

इन साखियों में कहन की शैली से लेकर उपमा, रूपक आदि पर भी कबीराना प्रभाव साफ दिख जाता है। सहजो ने अपनी वाणी में जहाँ दुष्टों दुर्जनों एवं खलों की पहचान की है वहीं साधु लोगों की संगति का गुणगान भी किया है-

''सहजो संगति साधु की, काग हंस हो जाय।

तजके भक्ष अभक्ष कूं। मोती चुगचुग खाय।।[15]

सहजोबाई की सहज और उपदेश प्रधान कविता में प्रेरणा एवं स्फुरणा का आकर्षक स्वर विद्यमान है। उनके भक्ति-संसार में जो प्राणी सत्य-सहज भाव में प्रवेश करता है, उसका कल्याण अवश्यंभावी है, क्योंकि सहजोबाई के प्रभु-द्वार पर किसी की जाति-पांति, ऊँच-नीच और अमीरी-गरीबी नहीं देखी जाती, केवल भाव देखा जाता है।

''जो आवे सतसंग में, जाति बरण कुल खोय।

सहजो मैलकुचैल जल, मिले सु गंगा होय।।[16]

सहजो की भक्ति-भावना का निचोड़ निकालने से पूर्व चरणदासी संप्रदाय (शुक संप्रदाय) के भक्ति-पद्धति को समझना जरूरी है। चरणदास जी के सिद्धांतों में सगुण-निर्गुण, द्वैत-अद्वैत और भेद-अभेद के सिद्धांतों का सुंदर समन्वय हुआ है। चरणदास जी ने श्रीमद्भागवत को ही समस्त वेद-उपनिषदों का सार

---

[13] सं. उषा लाल, सहजोबाई (साहित्य अकादमी, दिल्ली, 2012), पृ.सं. 65

[14] सं. उषा लाल, सहजोबाई (साहित्य अकादमी, दिल्ली, 2012), पृ.सं. 65

[15] सं. उषा लाल, सहजोबाई (साहित्य अकादमी, दिल्ली, 2012), पृ.सं. 28

[16] सं. उषा लाल, सहजोबाई (साहित्य अकादमी, दिल्ली, 2012), पृ.सं. 27

मानकर उसी के मत का प्रतिपादन किया है। श्रीमद्भागवत में सगुण-निर्गुण, दोनों स्वरूपों का वर्णन है। इसलिए चरणदास ने भी दोनों का ही वर्णन किया है।

''सूरदास सरगुन कथै, निरगुन कथै कबीर।

चरणदास दोनों कथै, पूरण पुरुष गंभीर।।[17]

इनके अनुसार भगवान के अनंत रूपों में निर्गुण उनका एक रूप है। इसी आधार पर चरणदास ने अपनी उपासना-पद्धति में श्री राधा-कृष्ण को अपना इष्ट माना है -

''राधा मोहन इष्ट निज, निष्ट न तिन सम और।

अवतारन अवतारी जी, सबहिन के सिरमौर।।[18]

हम कह सकते हैं कि सहजोबाई की भक्ति-पद्धति चरणदासी सिद्धांतों के अनुरूप ही आकारित हुई। यहाँ भक्त के भक्ति ही चरम मूल्य है जिसका लक्ष्य व्यष्टिगत और समष्टिगत संस्कार परिष्कर करना है।

दयाबाई

दयाबाई भी संत चरणदास के बावन शिष्यों में से एक थी। पीताम्बर दत्त बड़थ्वाल ने इनका उल्लेख सहजोबाई की चचेरी बहन के रूप में किया है, पर ये सहजो की बहन थीं, इस बात का स्पष्ट उल्लेख कहीं नहीं प्राप्त होता। ''अनुमानत: इनका जन्म संवत् 1785 वि. के आसपास माना जाता है। यह भी अपने गुरू चरणदास तथा गुरू बहन की भांति दूसर भार्गव वंशीय हैं। उच्च कोटि की कविता करके इन्होंने बड़ी ख्याति अर्जित की। इनकी जीवन लीला का अंत संवत् 1830 वि. में हुआ स्वीकार किया गया। इनका कार्य एवं साधना क्षेत्र प्रमुख रूप में कानपुर, बिठुर, प्रयाग आदि रहा है। कानपुर के पास 'रमेल' नामक स्थान पर इनकी समाधि बनी हुई है। इनके शिष्यों ने कई स्थानों पर मंदिर, मठ और उपासना स्थल निर्मित किये, जिनमें बिठुर तथा उसके निकटवर्ती इलाके में बांके बिहारी का मंदिर,

[17] सं. उषा लाल, सहजोबाई (साहित्य अकादमी, दिल्ली, 2012), पृ.सं. 29
[18] सं. उषा लाल, सहजोबाई (साहित्य अकादमी, दिल्ली, 2012), पृ.सं. 30

धर्मशाला शाह जी, शम्भु जी का मंदिर, मंदिर शंकर भगवान आदि उल्लेखनीय हैं।''[19] ''दया बाई की रचनाओं में उनके तीन नाम मिलते हें- दया, दयादासी और दया कुंवरि। श्री निर्मल जी ने स्त्री कवि कौमुदी में कुंवरि शब्द के आधार पर उन्हें किसी राजवंश का माना है। पर उनके जन्मकुल के विषय में किसी प्रकार का संशय नहीं है।''[20]

नागरी-प्रचारिणी सभा की रिपोर्ट में दयाबाई के दो ग्रंथों का उल्लेख है- दयाबोध और विनयमालिका। इन्होंने 'दयाबोध' ग्रंथ चैत्र सुदी 7, संवत् 1818 को समाप्त किया। दोहा और चौपाई छंदों में गुरू महिमा, सुमिरन, सुरातन, प्रेम भक्ति, वैराग, साधु, अजपा आदि अंगों की रचना की। उक्त सात अंगों में कुल 136 साखियों की रचना की। इसका उल्लेख दयाबाई के गुरू भाई जागेजीत ने अपने ग्रंथ 'लीला सागर' में किया है-

''दयाबोध शुभ ग्रंथ बनायी। संत महंतन के मन भायो।

दोहा चौपाई की रचना। अमृत मई मनोहर बचना।[21]

बेशक 'दयाबोध' सहजोबाई के 'सहज प्रकाश' से बहुत छोटा है। लेकिन अपने सौष्ठव में यह किसी भी प्रकार उससे कम नहीं है। भाषा पर दयाबाई का अधिकार अधिक है। वर्ण्य-विषय यद्यपि दोनों के लगभग समान हैं, पर दयाबाई की रचनाएँ उतनी शुष्क और प्रचारात्मक नहीं है जितनी सहजोबाई की।

संत दयाबाई भी सहजोबाई की भांति गुरू को विशेष महत्व देती है। इनके यहाँ गुरू हरि के रूप हैं, हरि दर्शन के दिग्दर्शक हैं पर हरि से बढ़कर कहीं नहीं हैं। दयाबाई गुरू के बिना ज्ञान, ध्यान ही नहीं अशुभ कर्मों के न कहने की बात कहती हैं। गुरू ही अशुभ कर्मों को काटता है और चौरासी लाख योनियों से मुक्ति दिला सकता है। गुरू के बिना राम की भक्ति भी मन में जाग्रत नहीं होती। गुरू के शरण में जो कोई जाता है वह उसके मन के सारे संशयों को दूर कर देता है। वह तो कौए को हंस बना देते हें। वह देवों के देव हैं। उसका कोई भेद नहीं जानता। वे करूणा के सागर कृपा निधान साक्षात् ब्रह्मा के स्वरूप हैं -

[19] बलदेव बंशी, भारतीय नारी संत परंपरा (वाणी प्रकाशन, दिल्ली, 2011), पृ.सं. 103-104

[20] डॉ. सावित्री सिन्हा, मध्यकालीन हिन्दी कवयित्रियाँ (आत्माराम एण्ड सन्स, दिल्ली, 1953), पृ.सं. 167

[21] बलदेव बंशी, भारतीय नारी संत परंपरा (वाणी प्रकाशन, दिल्ली, 2011), पृ.सं. 103

''गुरू बिन ज्ञान ध्यान नहिं होवै।

गुरू बिन चौरासी मन जोवै।।

गुरू बिन राम भक्ति नहिं जागे।

गुरू बिन असुभ कर्म नहिं त्यागै।।

गुरू ही दीन-दयाल गोसाई।

गुरू सरनै जो कोई जाई।।

पलटैं करैं काग सूं हंसा।

मन को मेटत हैं सब संसा।

गुरू हैं सब देवन के देवा।

गुरू को कोउ न जानत भेवा।।

करूना-सागर कृपा निधाना।

गुरू हैं ब्रह्म रूप भगवाना।।[22]

दयाबाई ने गुरू को हरि के समान माना है। वह कहती है हरि का नाम ही इस जग में सत्य है। सार है। शेष सब तो निस्सार है। इसी नाम का जप करना श्रेयस्कर है। वैसे तो अन्य संतों ने भी नाम-स्मरण का, जप का माहात्म्य बताया है। गुरू नानक देव ने तो 'जपुजी साहब' का पृथक से सृजन किया है, जिसका जप करने से सब प्रकार के कष्ट-क्लेश दूर होते हैं। सुख शांति मिलती है। किन्तु दयाबाई का कथन कुछ विलक्षण है। वह कहती हैं कि हरि का नाम जपने से मनुष्य स्वयं हरि बन जाता है और इस सृष्टि का अपार-अनंत भेद भी पा लेता है-

'दयादाम्स' हरि नाम लै या जग में ये सार।

हरि भजते हरि भये पायो भेद अपार।।[23]

x x x x x x

राम-नाम के लेत ही, पातक झरें अनेक।

---

[22] बलदेव बंशी, भारतीय नारी संत परंपरा (वाणी प्रकाशन, दिल्ली, 2011), पृ.सं. 105

[23] बलदेव बंशी, भारतीय नारी संत परंपरा (वाणी प्रकाशन, दिल्ली, 2011), पृ.सं. 106

रे नर हरि के नाम की, राखी मन में टेक।।[24]

निर्गुण मार्ग पर चलने वाला व्यक्ति शूर है। प्रेम के मार्ग पर चलने वाला पथिक शूर होता है। जो कबीर की तरह ही 'सीस उतारे भुइं धरै' का साहस रखता है। दयाबाई ने भी सूर के अंग में कुछ इसी तरह का वर्णन किया है-

''कायर कम्पै देख करि, साधू को संग्राम।

सीस उतारे भुइं हरि, जब पावे निज ठाम।।''[25]

प्रेम के अंग जैसे विषयों पर भी सहजो की वाणी, ऊँच-नीच, समतामूलक समाज आदि का वर्णन कर, निर्गुण की नीरसता को हटाने में असमर्थ रही है लेकिन दयाबाई के तद्विषयक रचनाओं पर भाव पक्ष अत्यंत प्रबल है। काग उड़ाती हुई, आशा और निराशा के पलों की उत्सुकता में, प्रियतम की प्रतीक्षा में नयन बिछाये एक विरहिणी के इस चित्र की भावुकता बिल्कुल सजीव है।

काग उड़ावत थके कर, नैन निहारत बार।

प्रेम सिन्ध में परयो मन, ना निकसन को घाट।।[26]

प्रेम के पीर से आक्रांत हृदय की टीस व्यक्त करते हुए वह कहती हैं

पंथ प्रेम की अटपटो कोइय न जानत बीर।

कै मन जानत आपनो कै लागी जेहि पीर।।[27]

इस प्रकार प्रेम-वियोग से विक्षिप्त इस विरहिणी का चित्र अनलंकृत होते हुए भी कितना सजीव तथा चित्रोपम है।

छिन उठूं छिन गिर परूं, राम दुखी मन मोर।

[24] डॉ. सावित्री सिन्हा, मध्यकालीन हिन्दी कवयित्रियाँ (आत्माराम एण्ड सन्स, दिल्ली, 1953), पृ.सं. 69

[25] डॉ. सावित्री सिन्हा, मध्यकालीन हिन्दी कवयित्रियाँ (आत्माराम एण्ड सन्स, दिल्ली, 1953), पृ.सं. 70

[26] डॉ. सावित्री सिन्हा, मध्यकालीन हिन्दी कवयित्रियाँ (आत्माराम एण्ड सन्स, दिल्ली, 1953), पृ.सं. 70

[27] सं. जगदीश्वर चतुर्वेदी, सुधा सिंह, स्त्री-काव्यधारा (अनामिका पब्लिशर्स, दिल्ली, 2006), पृ.सं. 51

बौरी है चितवत फिरूँ, हरि आवैं केहि ओर।।[28]

संसार की नश्वरता तथा क्षणभंगुरता को दिखाने के लिए दयाबाई ने वैराग के अंग की रचना की है। नश्वरता और क्षणभंगुरता को दिखाने के लिए जहां सहजोबाई ने वीभत्स चित्रण द्वारा जनता को डराने का काम किया है वहीं दयाबाई ने कल्पना और तर्क के सुंदर सामंजस्य से क्षणभंगुरता का सुंदर चित्र उकेरा है-

जैसे मोती ओस की, तैसो यह संसार।

विनसि जाय छिन एक में, दया प्रभु गुरू घार।।[29]

x x x x x x

आसु गाज कंचन दया, जोरे लाख-करोर

हाथ झाड़ रीते गये, भयो काल को जोर[30]

x x x x x x

बड़ी पेट है काल की, नेक न कहूँ अघाय।

राजा-रानी छत्रपति, सब को लीले जाय।।[31]

विराग की इन भावनाओं में केवल उपदेशात्मक और बौद्धिक तर्क ही नहीं वरन् भावना और कल्पना का सरल और मार्मिक पुट भी है। वायु के प्रबल झोंके से नभचर वारिद का अस्तित्व जिस प्रकार पल भर में विलीन हो जाता है, संसार में अपनी स्थिति को इसी प्रकार की समझकर भी मनुष्य शांति प्राप्ति का प्रयास नहीं करता। कैसी विडम्बना है-

''विनसत बादर बात वसि, नभ में नाना भांति।

इमि नर दीखत कालि बस, तऊ न उपजै सांति।।[32]

---

[28] सं. जगदीश्वर चतुर्वेदी, सुधा सिंह, स्त्री-काव्यधारा (अनामिका पब्लिशर्स, दिल्ली, 2006), पृ.सं. 51
[29] सं. जगदीश्वर चतुर्वेदी, सुधा सिंह, स्त्री-काव्यधारा (अनामिका पब्लिशर्स, दिल्ली, 2006), पृ.सं. 50
[30] सं. जगदीश्वर चतुर्वेदी, सुधा सिंह, स्त्री-काव्यधारा (अनामिका पब्लिशर्स, दिल्ली, 2006), पृ.सं. 51
[31] सं. जगदीश्वर चतुर्वेदी, सुधा सिंह, स्त्री-काव्यधारा (अनामिका पब्लिशर्स, दिल्ली, 2006), पृ.सं. 50
[32] डॉ. सावित्री सिन्हा, मध्यकालीन हिन्दी कवयित्रियाँ (आत्माराम एण्ड सन्स, दिल्ली, 1953), पृ.सं. 71

कल्पना एवं तर्क के इस सुंदर सामंजस्य की सजीवता तथा सकलता को देखकर डॉ. सावित्री सिन्हा कहती हैं कि- ''विश्वास नहीं होता कि ये पंक्तियाँ काव्य-रचना के ज्ञान से रहित किसी स्त्री द्वारा रचित है।''[33] आगे डॉ. सिन्हा कहती हैं कि- ''दयाबाई की इस रचना (दयाबोध) में ज्ञान तथा योग की सम्यक विवेचना के साथ-साथ काव्य का कोमल पुट भी है। परिमाण में इनकी रचनाएँ सहजो की रचनाओं से कम अवश्य हैं, पर गाम्भीर्य, सौष्ठव तथा विषय प्रतिपादन की दृष्टि से दयाबाई के पद अधिक उत्कृष्ट ठहरते हैं। वर्ण्य-विषय दोनों में लगभग एक-से ही हैं। जहाँ सहजो की शैली वर्णनात्मक, शुष्क और पिष्ट-पौष्ठित हैं वहाँ दयाबाई की शैली प्रवाहमयी, सरल तथा काव्यात्मक हैं। दयाबाई की रचनाएँ काव्य से उतनी दूर नहीं हैं जितनी सहजो की।''[34] वाकई दयाबाई की रचनाएँ काव्यात्मकता से लैस हैं।

दयाबाई की बानियों का दूसरा ग्रंथ है 'विनय मालिका'। इस ग्रंथ के रचयिता के विषय में मतभेद है। इनकी पंक्तियों में दयादास का प्रयोग, जिससे यह अनुमान लगाया जाता है कि इसकी लेखिका दयाबाई नहीं, दयादास नामक कोई व्यक्ति होगा। डॉ. सावित्री सिन्हा इन दोनों ग्रंथों के भाव, भाषा और सौंदर्य आदि गहन पड़ताल कर इस निष्कर्ष पर पहुँची हैं कि दोनों ग्रंथ किसी एक रचनाकार के नहीं हो सकते हैं। संभव है चरणदासी संप्रदाय में कोई दयादास नामक संत हो। चूंकि इस ग्रंथ का संबंध दयाबाई के नाम से जोड़ा जाता है अत: इस ग्रंथ का सामान्य परिचय जरूरी है। विनयमालिका में परमात्मा से विनती के विविध भाव तथा रूप व्यक्त हुए हैं तथा प्रभु-कृपा के पात्रों के विविध उल्लेख हैं। भगवान के विविध अवतारों-प्रकरणों का उल्लेख है। जैसे कच्छप अवतार, रावण को मारने वाले अवधेश, कंश का वध करने वाले कृष्ण, हिरण्यकश्यप को मारने वाले नरसिंह आदि। इसके अलावा द्रौपदी, सुदामा प्रकरण भी मिलता है तो साथ ही भक्त नामदेव, कबीर, पीपा, सदना, सेना इत्यादि के दृष्टांतों का वर्णन है, जिन पर परमात्मा ने अपनी करूणा और दया की वर्षा की है।

---

[33] डॉ. सावित्री सिन्हा, मध्यकालीन हिन्दी कवयित्रियाँ (आत्माराम एण्ड सन्स, दिल्ली, 1953), पृ.सं. 71

[34] डॉ. सावित्री सिन्हा, मध्यकालीन हिन्दी कवयित्रियाँ (आत्माराम एण्ड सन्स, दिल्ली, 1953), पृ.सं. 74-75

बहरहाल, ‘विनयमालिका’ का संबंध दयाबाई से है या नहीं है, इस पचड़े में ना पड़ते हुए दयाबोध के आधार पर दयाबाई का विषय प्रतिपादन, भावों की अभिव्यंजना तथा आत्माभिव्यक्ति हिन्दी साहित्य में उत्कृष्ट है। प्रेम की विह्वलता और सांसारिक मायाजन्य नैराश्य के जो सुंदर तथा सजीव चित्र दया ने खींचे हैं वे अपने आप में बेजोड़ हैं। दयाबाई की काव्यात्मकता ने हिन्दी साहित्य को समृद्ध किया है लेकिन हिन्दी साहित्य की विडम्बना यह है कि दयाबाई की चर्चा विशेष रूप से कभी नहीं की जाती है।

इन दो स्त्री रचनाकारों का उत्तरमध्यकालीन साहित्यिक, सामाजिक एवं सांस्कृतिक परिदृश्य में विशिष्ट योगदान है। एक ओर जहाँ इन्होंने संत साहित्य की परंपरा का निर्वाह करते हुए अपनी मेधा और प्रतिभा के हिसाब से साहित्य की सर्जना की तो वहीं दूसरी ओर अपनी वाणी के माध्यम से सामाजिक एवं सांस्कृतिक उत्थान की प्रक्रिया को तेज किया। इन्होंने अपने शिष्यों-प्रशिष्यों के माध्यम से पूरे देश भर में, सामाजिक सौहार्द्र बनाने, मानव मूल्य को स्थापित करने के लिए जगह-जगह अपने संप्रदाय को फैलाया। रामतें (धार्मिक यात्रा) के द्वारा जनता के बड़े तबके को प्रभावित किया। गौरतलब है, उत्तरमध्यकाल में इन निर्गुणिया संप्रदाय के अनुयायियों की संख्या बीस हजार से लेकर तीस हजार तक होती थी तो फिर उत्तरमध्यकाल पर लगाया जाने वाला यह आरोप कहां तक तर्कसंगत होगा कि उत्तरमध्यकाल में समाज की उपेक्षा हुई? दरअसल संपूर्ण उत्तरमध्यकाल को शृंगार काल के परिप्रेक्ष्य में ही देखा जाता है जबकि इस समय तमाम स्त्री-पुरुष रचनाकार सामाजिक एवं सांस्कृतिक प्रश्नों से मुठभेड़ कर रहे थे। इस काल में निर्गुण धारा से जुड़ी और भी स्त्री रचनाकर रही होंगी। बदलेव वंशी ने अपनी पुस्तक ‘भारतीय नारी संत परंपरा’ में ‘संत नूपीबाई’ नामक एक स्त्री रचनाकार का जिक्र किया है जो कि चरणदासी संप्रदाय से ही संबंधित थीं। यहां पर इनके कुछ पदों का भी जिक्र हुआ है जो कि लोकजीवन में विशेष पर्वों-त्योहारों पर खूब गाये जाते हैं लेकिन इनका कोई संग्रह नहीं मिला है। चूंकि इनकी न कोई शिष्य परंपरा थी ना ही इनका कोई स्थायी निवास था इस कारण इनके पद इधर-उधर बिखरे हैं, कुछ पदों को लोक ने सींचा जरूर लेकिन कहने का आशय यह है कि संग्रह, संकलन, शिष्य परंपरा आदि के अभाव में तमाम निर्गुणिया स्त्री रचनाकार गुमनाम हैं, उनके रचे पद नष्ट हो गये होंगे!

कृष्णकाव्य और स्त्री रचनाकार

मानव जीवन के सौंदर्यपूर्ण एवं माधुर्यपूर्ण पक्ष को दिखाकर वैष्णव भक्त कवियों ने धर्मतंत्र के तमाम बंदिशों एवं वर्जनाओं के बीच जीवन के उद्दाम रंग और उसके प्रति अनुराग को बचाए रखा। जिस समय भक्ति आध्यात्मिक सुसाइड की ओर बढ़ रही थी ठीक उसी समय जीवनाकांक्षा एवं आध्यात्मिक चेतना को एक साथ लेकर वैष्णव भक्त कवि उपस्थित होते हैं। वैष्णव भक्ति का इतिहास काफी प्राचीन है। वैष्णव भक्ति प्रेमरूपा है, जिसमें मानवीय प्रेम के सापेक्ष भक्ति का अस्तित्व खड़ा है। इस भक्ति साधना ने वेद-विधान और शास्त्र की मर्यादा से भिन्न शुद्ध मानवीय प्रेम को स्वीकार किया। भक्ति की साधना में लौकिकता का आग्रह था। अत: प्रेम तत्व ही प्रधान बनकर आया। प्राय: सभी भक्ति ग्रंथों में भगवान को सर्वदा सर्वभाव से भजनीय माना गया है। श्री रूप गोस्वामी के अनुसार भक्ति की मूल भावनाएँ शान्ति, प्रीति, प्रेम, वत्सल और मधुर हैं। भक्तिमार्गियों के अनुसार भी वात्सल्य, सख्य, दास्य तथा मधुर भावों में व्यक्त होने वाली रति ही भक्ति थी, इस प्रकार प्रीति की अभिव्यक्ति मुख्यतया चार प्रकार से होती है। स्त्री रचनाकारों ने भी अपनी प्रीति की अभिव्यक्ति इन्हीं चार प्रकारों के अंतर्गत की है-

1. दास्य प्रीति
2. सख्य प्रीति
3. वात्सल्य प्रीति
4. माधुर्य प्रीति।

दास्य प्रीति में उत्सर्ग की चरम भावना रहती है। अहं का विनाश होकर जब ईश्वर की शक्ति-सामर्थ्य के सामने साधक की शक्ति विलीन हो जाती है, तभी उसकी साधना सार्थक होती है। दास्य भक्ति के इस विवेचन में नारी के पत्नी रूप का यथेष्ट साम्य है। पति के व्यक्तित्व तथा शक्ति-सामर्थ्य में ही अपना अस्तित्व, अपनी सामर्थ्य तथा अपना सर्वस्व लय कर देना ही उस समय पत्नीत्व की परिभाषा थी। सख्य प्रीति भक्ति का दूसरा रूप है। इस भक्ति के अनुसार भक्त भगवान के प्रति आदर्श मैत्रीभाव रखता है। वात्सल्य भाव कृष्ण-भक्ति परंपरा का प्रधान तत्व था, जिसने नारी को इस भक्ति की ओर सबसे अधिक आकर्षित किया। इस भाव की तीव्र अनुभूति का अनुभव जिस तरह एक नारी-हृदय कर सकता है

वैसा पुरुष-हृदय नहीं कर सकता। माधुर्य प्रीति भक्ति का सर्वप्रधान अंश है। आत्मा की परमात्मा के प्रति रागात्मक अनुभूति की अभिव्यक्ति दांपत्य या माधुर्य प्रीति के माध्यम से ही होती है। ''कृष्ण काव्य-परंपरा की इस भावमूलक पृष्ठभूमि में नारी को अपने हृदय का सामंजस्य मिला। नारीत्व का मुक्त और स्वतंत्र रूप गोपियों तथा राधा आदि के रूप में व्यक्त हुआ है। कृष्ण काव्य परंपरा ने स्त्रियों को मुक्त किया है। इस काव्य परंपरा में स्त्रियाँ अपनी आदिम आकांक्षाओं को भी अभिव्यक्त कर सकती थीं और किया भी-

हेरी मैं तो प्रेम दिवाणी मेरा दरद न जाणे कोय।

सूली ऊपर सेज पिया की किस बिधि मिलणा होय।।''[35]

वाकई मध्यकालीन भारतीय समाज में एक विधवा स्त्री के लिए 'सेज' सूली के ऊपर ही रखा होता था। उस बंद समाज में एक विधवा स्त्री द्वारा सेज की कल्पना की अभिव्यक्ति भी एक क्रांतिकारी कदम था। 'लोकलाज कुल शृखंला, तजि मीरा गिरधर भजी।' कहने का साहस या इस प्रकार की छूट कृष्ण काव्य-परंपरा में ही दिखता है। इसी कारण उत्तर मध्यकाल तक आते-आते कृष्ण काव्य परंपरा में बड़ी संख्या में स्त्रियाँ खुद को अभिव्यक्त करतीं दिखाई पड़ती हैं। सोलहवीं सदी में मीराबाई के अलावा गंगास्त्री और यमुनास्त्री का नाम 'हस्तलिखित हिन्दी पुस्तकों का विवरण' और 'मिश्रबंधु विनोद' में मिलता है। वैष्णव सर्वस्व के लेखकानुसार दोनों स्वामी हितहरिवंश की शिष्या थीं जिनका समय 1559-1651 वि. है। ध्रुवदास ने भी भक्तमाल में लिखा है-

गंगा जमुना तियनि में परम भागवत जानि।

तिनकी बानी सुनत ही बड़े भक्ति उर आनि।।''[36]

मीरा के बाद महत्वपूर्ण कवयित्रियों में ताज का नाम लिया जा सकता है। 'ताज' का परिचय देते हुए 'भारतयी नारी संत परंपरा' में बलदेव वंशी कहते हैं कि- ''वह तो एक तरह से मीरां से भी आगे बढ़ गयी। मीरां ने तत्कालीन अपने राजपरिवार की मर्यादाओं का परित्याग करके हिन्दू पुरुष समाज की नारी

[35] सं. जगदीश्वर चतुर्वेदी, सुधा सिंह, स्त्री-काव्यधारा (अनामिका पब्लिशर्स, दिल्ली, 2006), पृ.सं. 83

[36] सुमन राजे, हिन्दी साहित्य का आधा इतिहास (भारतीय ज्ञानपीठ, दिल्ली, 2015), पृ.सं. 153

पर लगाई गयी पाबंदियों को छोड़ा और बदनामी सही! साधु-संतों के सत्संग में बे-रोक-टोक नाची और कृष्ण को अपना पति घोषित कर निर्द्वंद्व होकर विचरण करती रही; किंतु ताज ने तत्कालीन शासकों के वर्चस्वी, मुस्लिम धर्म-समाज कलमा-कुरान आदि तथा अपने मुगलानी धर्म के आन-बान को कृष्ण पर कुर्बान करके हिन्दुआनी बनना स्वीकार किया। इस कारण हुई बदनामी को शिरोधार्य किया और मुक्त कंठ से गाया।

''सुनो दिलजानी, मेरे दिल दी कहानी तुम।
दस्त ही बिकानी, बदनामी भी सहूंगी मैं।।
देवपूजा ठानी मैं, निवाजहूँ भुलानी तजे।
कलमा कुरान साड़े, गुननि गहूँगी मैं।।
सांवला सलोना सिरताज, सिर कुल्ले दियें।
तेरे नेह दाग में, निदाध ह्वै दहूँगी मैं।।
नन्द के कुमार, कुरबान तेरी सूरत पै।
हूं तो मुगलानी, हिन्दुआनी ह्वै रहूंगी मैं।।''[37]

आज जब हमारे तमाम इतिहासकार मुगलकालीन भारत के सांप्रदायिक चरित्र को दिखाने के लिए तर्क एवं कुतर्क कर रहे हैं, तब ताज का तेवर उस सामसिक ताने-बाने को दिखाता है जिसमें प्रेम के सामने न कोई धर्म है न कोई संप्रदाय। ताज का जन्म संवत् 1652 वि. माना जाता है, जिसकी पुष्टि मिश्र बधुओं ने भी की है। मुंशी देवीप्रसाद ताज के जन्म को संवत् 1700 वि. तक ले जाते हैं। ताज के संबंध में गोविंद गिल्लाभाई ने अपने एक पत्र में 'निर्मल' जी को लिखा था- ''ताज नाम की एक मुसलमान स्त्री कवि करौली ग्राम में हो गयी है। ...जब मैं करौली गया था, तब अनेक वैष्णवों के मुख से मैंने यह बात सुनी थी। वहीं मैंने इनकी अनेक कविताएँ भी सुनी...। कितनी ही कविताएँ मैंने लिख भी ली थीं। ताज की दो सौ कविता मेरे हाथ की लिखी मेरे निजी पुस्तकालय में हैं।''[38] हम पाते हैं कि ताज ने काफी पद

[37] बलदेव वंशी, भारतीय नारी संत परंपरा (वाणी प्रकाशन, दिल्ली, 2011), पृ.सं. 90
[38] डॉ. सावित्री सिन्हा, मध्यकालीन हिन्दी कवयित्रियाँ (आत्माराम एण्ड सन्स, दिल्ली, 1953), पृ.सं. 186-187

लिखें। कृष्ण भक्त परंपरा में कृष्ण से संबंधित स्थान, प्रतीक, चिन्ह, विशेषकर कालिंदी का तट और कदम्ब के कुंजों के वर्णन के साथ पंकज शय्या पर राधा की प्रतीक्षा करते कृष्ण तथा राधा की चटक-मटक पर अटकी हुई आँखें ताज के कल्पना जगत का सुंदर निर्माण है-

कालिंदी के तीर नीर, निकट कदम्ब कुंज।
मन कुछ ईच्छा कीनी, सेज सरोजन की।।
अंतर के यामी कामी, कंवल के दल लेके।
रची सेज तहां शोभा, कहा कहौं तिन की।।
तिहि सम 'ताज' प्रभु दंपत्ति मिले की छबि।
बरन सकत कोऊ, नाहिं वाहि छिन की।।
राधा की चटक देख, आँखियाँ अटक रहीं।
मीन को मरन नाहिं साजत बा दिन की।।[39]

ताज को भारतीय शास्त्र-परंपरा का ज्ञान तो था ही उन्हें अपने समकालीनों से भी काफी लगाव था। इसी कारण इनकी कविता में ध्रुव और प्रह्लाद से लेकर कबीर और मीरा का जिक्र भी आता है।

''ध्रुव से प्रह्लाद गज ग्राह से अहिल्या देवि,
स्योरी और गीध और विभीषन जिन तारे हैं।
पापी अधामिल सुर तुलसी रैदास कहूं,
नानक मलक ताज हरि ही के प्यारे हैं।।
धनी नामदेव दादू सदना कसाई जान,
गनिका, कबीर, मीरा, सेन उर धारे हैं।
जगत को जीवन जहान बीच नाम सुन्यो
राधा के वल्लभ कृष्ण वल्लभ हमारे हैं।''[40]

[39] सं. जगदीश्वर चतुर्वेदी, सुधा सिंह, स्त्री-काव्यधारा (अनामिका पब्लिशर्स, दिल्ली, 2006), पृ.सं. 46
[40] सं. जगदीश्वर चतुर्वेदी, सुधा सिंह, स्त्री-काव्यधारा (अनामिका पब्लिशर्स, दिल्ली, 2006), पृ.सं. 47

'मो को तो भरोसो एक नन्द जी के लाल को' कहकर जहाँ ताज अपनी एकनिष्ठ अनन्य भक्ति को व्यक्त करती है तो वहीं वह हिन्दू धर्म में प्रचलित अनेक आडम्बरों पर आक्षेप भी करती है-

काहू को भरोसो बद्रीनाथ जाय पायँ परे,
काहू को भरोसो जगन्नाथ जू के मान को।
काहू को भरोसो काशी गया में पिंड भरे,
काहू को भरोसो प्राग देखै वर पय को।[41]

ताज की भक्ति भावना का आधार कृष्ण का माधुर्यमय विराट रूप है। 'मेरे तो आधार एक, नंद के कुमार है' - उनकी भावनाओं में चंचलता नहीं है वरन् प्रेम पंथ की गहनता और गंभीरता है। कृष्ण के रूप पर आकर्षित होकर उनकी भावनाओं का बांध कहीं टूटता नहीं है। डॉ. सावित्री सिन्हा कहती हैं कि- ''कृष्ण काव्य की कवयित्रियों में, कला के सौष्ठव की दृष्टि से मीरा के पश्चात ताज का ही स्थान आता है। उनके काव्य की शुद्ध आत्मा सुधर कला की कसौटी पर पूर्ण परिष्कृत होकर निखर गई है। यह कहना अनुपयुक्त न होगा कि ताज अपने युग की एकमात्र सचेष्ट कलाकार थीं। मीरा की अनुभूतियों की प्रखरता ही कला बन गई थी, उनकी भावनाओं के अजस्त्र स्रोत के प्रवाह में सुंदर मुक्ताएँ मिलती हैं, परंतु ताज की अनुभूतियाँ उनकी प्रतिभा तथा कला के स्पर्श से कुंदन बन गई हैं।''[42]

गंगाबाई (विट्ठल गिरधरन)

कृष्ण काव्य परंपरा की लेखिकाओं में सिर्फ गंगाबाई ने ही वात्सल्य भाव को प्रधान रूप में ग्रहण किया है। अधिकांश स्त्री-रचनाकारों ने कृष्ण के प्रति माधुर्य भाव को ही व्यक्त किया। मातृहृदय के उल्लास की अभिव्यक्ति कृष्ण के बाल रूप में करने वाली गंगाबाई ही हैं। विट्ठलदास के शिष्यों के पदों मे विट्ठल गिरधरन के नाम से गंगाबाई के पद संकलित हैं। विट्ठल नाथ जी की शिष्या होने के कारण उन पर पुष्टि मार्ग के सिद्धांतों का पूर्ण प्रभाव है। काव्य-विषय के रूप में लीला-वर्णन इस बात की पुष्टि करता है।

---

[41] सं. जगदीश्वर चतुर्वेदी, सुधा सिंह, स्त्री-काव्यधारा (अनामिका पब्लिशर्स, दिल्ली, 2006), पृ.सं. 47

[42] डॉ. सावित्री सिन्हा, मध्यकालीन हिन्दी कवयित्रियाँ (आत्माराम एण्ड सन्स, दिल्ली, 1953), पृ.सं. 193

स्त्री होने के कारण उन्होंने वात्सल्य और माधुर्य भाव को ही अधिक अपनाया। गंगाबाई की रचनाओं में कृष्ण के बालरूप के प्रति वात्सल्य तथा किशोर रूप के प्रति मधुर भावनाएँ व्यक्त हैं।

जसुमति सब दिन देत बधाई

मेरे लाल की मोहि विधाता बरसगाँठ दिखाई।।

बैठी चौक गोद ले ढोटा आछी लगनि घराई।

बहुत दान पावन सब विप्रन लालन देखि सिहाई।।

रुचि करि देहु असीस ललन को अप अपने मन चाई।

श्री विट्ठल गिरधरन गहि कनिया खेलत रहहि सदाई।।[43]

गंगाबाई ने हिन्दू परंपरा के अनुसार पुत्र के वर्षगांठ के अवसर पर यशोदा के आनंदित हृदय की कल्पना के माध्यम से अपने हृदय की कल्पना को व्यक्त किया है।

सब कोई नाचत करत बधाये।

नर नारी आपसु में ले ले हरद दही लपटाये।।

गावत गीत भांति भांतिन के अप अपने मन भाये।

काहू नहीं संभार रही तन प्रेम पुलकि सुख पाये।

नन्द की रानी ने यह ढोटा भले नक्षत्रहिं जाये।

श्री विट्ठल गिरधरन खिलौना हमरे भागन पाये।।[44]

कृष्ण के बालरूप के प्रति यह सरलता तथा स्वाभाविकता एक मातृहृदय द्वारा ही व्यक्त हो सकती है। किशोर कृष्ण की नटखट प्रवृत्ति एवं चंचल स्वभाव का वर्णन गंगाबाई एक किशोरी प्रेयसी के रूप में करती हैं -

लाल! तुम पकरी कैसी बान!

जब ही हम आवत दधि बेचन तब ही रोकत आन।।

---

[43] सं. जगदीश्वर चतुर्वेदी, सुधा सिंह, स्त्री-काव्यधारा (अनामिका पब्लिशर्स, दिल्ली, 2006), पृ.सं. 30

[44] सं. जगदीश्वर चतुर्वेदी, सुधा सिंह, स्त्री-काव्यधारा (अनामिका पब्लिशर्स, दिल्ली, 2006), पृ.सं. 30

यन आनंद कहत मुंह की सी, नंद नंदन सो बात।

घूंघट ही ओझल है देखन, मन मोहन करि घात।।

हंसि लाल गहयो तब अंचरा, बदन दही जु चखाई।

श्री विट्ठल गिरधरन लाल ने खाइ के दियो लुटाई।।[45]

गंगाबाई के पदों में कृष्ण के बालरूप, किशोर रूप के लीला वर्णन के साथ-साथ कृष्ण के पालने, छठी, राधा अष्टमी की बधाई तथा दान आदि के पद हैं तो वहीं रास एवं रूप चतुर्दशी से संबंधित गीत भी हैं। पुष्टिमार्गी भक्तों के अनेक पद-संग्रहों में उनके पद संग्रहित हैं। जिन संग्रहों में उनके पद मिलते हैं वे हैं- बधाई गीत सार, बधाई सागर, गीत सागर, उत्सव के पद आदि।

रसिक बिहारी (बनी ठनी जी)

कृष्ण-काव्य परंपरा के कवियों में विशिष्ट स्थान रखने वाले कवि 'नागरीदास' की सहचरी 'रसिक बिहारी' ने भी कई पदों की रचना की। नागरीदास जी प्रेम से रसिक बिहारी को 'बनी' कहकर संबोधित करते थे। वृंदावन में 'रसिक बिहारी बनी ठनी' जी के नाम की एक छतरी है जिससे यह प्रमाणित हो जाता है कि रसिक बिहारी बनी ठनी जी नागरीदास के साथ वृंदावन में रही थीं। नागरीदास जी के रचना संग्रह 'नागर समुच्चय' में 'आन कवि' कृत नाम से रसिक बिहारी जी के पद मिलते हैं। 'नागर समुच्चय' के अतिरिक्त उत्सव माला नामक ग्रंथ में भी रसिक बिहारी छाप के तीन पद और चार दोहे प्राप्त होते हैं। रसिक बिहारी राधा-कृष्ण के युगल रूप की उपासिका थीं। कृष्ण के प्रति उनके भावों में माधुर्य की ही प्रधानता है, परंतु राधा के बाल रूप तथा जन्म के अवसर पर जो पद मिलते हैं उनमें वात्सल्य प्रधान है-

''आज बरसाने मंगल गाई।

कुंवरलली को जनम भयो है घर घर बजत बधाई।।

मोतिन चौक पुरावो गावो देहु असीस सुहाई।

[45] सं. जगदीश्वर चतुर्वेदी, सुधा सिंह, स्त्री-काव्यधारा (अनामिका पब्लिशर्स, दिल्ली, 2006), पृ.सं. 31

'रसिक बिहारी' की यह जीवनि प्रगर भई सुखदाई।।[46]

x x x x x x x

आज बधावो वृषभान के धाम।

मंगल-कलश लिए आवत हैं गावत ब्रज की बाम।।

कीरति कैं की रति प्रगरी है रूप धरें अभिराम।

'रसिक बिहारी' की यह जोरी हौंनी राधा नाम।।[47]

कृष्ण के प्रति उनकी भावनाओं में माधुर्य भाव प्रधान है। रसिक बिहारी बनी ठनी जी के जीवन में मानसिक और शारीरिक कुंठा का अभाव था। मध्ययुगीन सामंती समाज में समस्त सामाजिक तथा वैधानिक नियमों का उपहास करते हुए उन्होंने नागरीदास के साथ बिना किसी बंधन में बंधे पूरा जीवन बिताया। प्रेम की आतुरता समाज के उपहास को अनदेखा करती है-

मैं अपने मन भावन लीनौं, इन लोगन को कहा न कीनौं।

मन दे मील लियो री सजनी, रत्न अमोलक नंददुलारे।।[48]

इनके माधुर्य भावनाओं में रतिभाव की चेष्टाएँ अधिक है। इनका मांसल नारीत्व सदैव सजग है-

कुंज पधारो रंग-भरी रैन।

रंग भरी दुलहिन रंग भरे पीया स्यामसुंदर सुख दैन।।

रंग-भरी सेज रची जहां सुन्दर रंग-भर्यो उलहत मैन।

'रसिक बिहारी' प्यारी मिलि दोउ करौ रंग सुख-चैन।।[49]

फाग के उल्लास का प्रयोग इन्होंने संयोग भावना के उद्दीपन के रूप में किया है-

भीजै म्हांरी चूनरी हो नंदलाल।

एरहु केसर-पिचकारी जनि हा! हा! मदन गुपाल।।

---

[46] सं. जगदीश्वर चतुर्वेदी, सुधा सिंह, स्त्री-काव्यधारा (अनामिका पब्लिशर्स, दिल्ली, 2006), पृ.सं. 101

[47] सं. जगदीश्वर चतुर्वेदी, सुधा सिंह, स्त्री-काव्यधारा (अनामिका पब्लिशर्स, दिल्ली, 2006), पृ.सं. 101

[48] सं. जगदीश्वर चतुर्वेदी, सुधा सिंह, स्त्री-काव्यधारा (अनामिका पब्लिशर्स, दिल्ली, 2006), पृ.सं. 102

[49]सं. जगदीश्वर चतुर्वेदी, सुधा सिंह, स्त्री-काव्यधारा (अनामिका पब्लिशर्स, दिल्ली, 2006), पृ.सं. 101

भीज बसन उधरो सो अंग अंग बड़ो निलज यह ख्याल।

'रसिक बिहारी' छैल निडर थे पाले को जंजाल।।[50]

फाग का वर्णन करते हुए रसिक बिहारी जी ने कृष्ण लीला का वर्णन भी किया है-

कैसे जल लाऊं मैं पनघट जाऊं।

होरी खेलत नंद लाडिलों क्यों कर निबहन पाऊं।।

वे तो निलज फाग मदमाते हौं कुल-बधू कहाऊं।

जो छुवें अंचल 'रसिक बिहारी' धरती कार समाऊं।।[51]

राधावल्लभ संप्रदाय से संबंधित होने के कारण इनकी रचनाओं में कामुकता एवं उच्छृंखलता की प्रधानता है लेकिन फिर ये रचनाएं महत्वपूर्ण हैं।

रानी बख्त कुंवरि (प्रियासखी)

ये दतिया राज्य की रानी थीं। इनका उपनाम प्रियासखी था। इनका एक ग्रंथ 'प्रियासखी की बानी' उपलब्ध है। इसमें राधा-कृष्ण की युगल लीलाओं का वर्णन है। हस्तलेखन की तिथि 1734 वि.सं. है। राधा-कृष्ण की दंपत्ति-लीला का माधुर्य युक्त वर्णन उनकी कविता का ध्येय था, राधा तथा कृष्ण की प्रेम लीलाएं ही उनके काव्य की प्रेरणा है-

सखी! ये दोई होरी खेलें।

रंगमहल से राधावल्लभ रूप परस्पर झेलें।

रूप परस्पर झेलत होरी खेलत खेल नवेले।।

प्रेम पिचक पिय नैन भरे तिय, रूप गुलाल सुमैसे।

कुंदन तन पर केसरि फीकी, स्याम गौर भये मैसे।।

...समर के सूर लरत दोई, टूटन हार हमेले।

सन्मुख रूख मुस्कयाति झपति झुकि लाडिली लालहि पैले।।

---

[50] सं. जगदीश्वर चतुर्वेदी, सुधा सिंह, स्त्री-काव्यधारा (अनामिका पब्लिशर्स, दिल्ली, 2006), पृ.सं. 103

[51] सं. जगदीश्वर चतुर्वेदी, सुधा सिंह, स्त्री-काव्यधारा (अनामिका पब्लिशर्स, दिल्ली, 2006), पृ.सं. 101

प्रियासखी हित यह छवि निरखति सुख की रासि सकैले।

सखी! ये दोई होरी...।''[52]

इन्होंने फाग की मादक लीलाओं का चित्रण भी किया है-

छैल छबीलो राधा गोरी होरी खेल मचायो।

केसरी ढोरि गुलाल मांडि मुष अंजन दे हंसि पिय गुलचायो।।

पीताम्बर सो हाथ बांधि करि होरी को नाच नचायो।

प्रियासखी के भेष बनायो पगनि महावर रंग रचायो।।[53]

सुंदर कुंवरिबाई

सुंदर कुंवरिबाई का जन्म कार्तिक सुदी 9, संवत् 1791 में दिल्ली में हुआ था। इनके पिता कृष्णगढ़ के राठौर राजा राजसिंह तथा माता रानी बांकवती थी। बाल्यावस्था में पिता की मृत्यु के बाद पारिवारिक तथा राजनैतिक झगड़े खड़े हुए। इसी कारण समय से इनका विवाह भी नहीं हो सका। 31 वर्ष की आयु में रूपनगर के खीची वंश के राजकुमार बलवंत सिंह के साथ इनका विवाह हुआ। पतिगृह में भी इन्हें राजनैतिक और पारिवारिक वैमनस्यता का ही सामना करना पड़ा। इस विषम परिस्थिति में भी सुंदर कुंवरि बाई काव्य रचना में लीन रही। इनकी रचनाओं का उल्लेख प्राय: सभी खोज ग्रंथों तथा राजस्थानी साहित्य के इतिहास ग्रथों में उपलब्ध है। इनके द्वारा रचित ग्यारह ग्रंथ प्राप्त है। नेह निधि, राम रहस्य, संकेत युगल गोपी महात्म्य, रस पुंज, सार संग्रह, वृंदावन गोपी महात्म्य, भावना प्रकाश रंगझर, प्रेम संपुट आदि। इन समस्त ग्रंथों की रचना की प्रेरणा भगवद् भक्ति है। केवल 'राम रहस्य' में राम-कथा वर्णित है। शेष सभी में कृष्ण के लीला रूप की ही प्रधानता है।

सुंदर कुंवरि द्वारा वर्णित बाल क्रीड़ाओं में समवयस्क बालक-बालिकाओं का विशुद्ध प्रेम अंकित है। 'रसपुंज' में से गौरस दान वर्णन देखा जा सकता है। वृंदावन की गोपिकाएं दधि बेचने के लिए जा रही है। उनका मार्ग रोककर हठीले कृष्ण खड़े हो जाते हैं और कहते हैं-

---

[52] सं. जगदीश्वर चतुर्वेदी, सुधा सिंह, स्त्री-काव्यधारा (अनामिका पब्लिशर्स, दिल्ली, 2006), पृ.सं. 104

[53] सं. जगदीश्वर चतुर्वेदी, सुधा सिंह, स्त्री-काव्यधारा (अनामिका पब्लिशर्स, दिल्ली, 2006), पृ.सं. 104

''विपिन हमारे कौन तुम कहा काज कित जात?

देहु दान वन राहकर, बहुरि न पूछें बात।।

ललिता उत्तर देती है-

तुम को हो? टरि जाहु किन तुम्हारो का बन मांहि?

वन वृषमानु महीप के, नंद बसायो नाहिं।।''[54]

ललिता का प्रतिउत्तर सुनकर कृष्ण का बालोचित व्यवहार किशोरावस्था के चांचल्य से भर जाता है। वे कहते हैं-

''लंक लचत पग डगमगे, तन धहरत सुकुमार।

ताते हमको देहु यह शीश गगरिया भार।।

गोपियां चूकती नहीं, प्रखर उत्तर देती हैं-

हमारे ये गृह काज हैं नित इत आवज जात।

तुमहि भार को भार का क्यों मुख पानी आत।।''[55]

इस प्रकार की चुटकियों से भरी अनेक बाल-प्रतिद्वंद्विता सुंदर कुंवरि बाई के लीला वर्णन में देखने को मिलती है। गोपियों की मुखरता कृष्ण की धृष्टता से अक्सर टक्कर लेती दिखती है। 'गोरस दान-लीला' में एक बार कृष्ण कहते हैं कि- ''नंद की शपथ खाकर कहते हैं, सीधे से देना है तो दे दो, नहीं जबरदस्ती शीश से गगरी खींच ली जाएगी।'' गोपिकायें भी अपने गोरस की रक्षा करते हुए उसका यथातथ्य उत्तर देती है- ''काले चोर को दान लेते कभी नहीं सुना।'' इस तरह बाल-प्रतिद्वंद्विता सुंदर कुंवरि के काव्य को कृष्ण काव्य-परंपरा में महत्वपूर्ण स्थान दिला सकती है लेकिन स्त्री रचनाकारों के प्रति पुरुष आलोचकों, इतिहासकारों का रवैया बिल्कुल साफ है। ऐसा नहीं है कि सुंदर कुंवरि ने सिर्फ बाल प्रतिद्वंद्विता को ही चित्रित किया है। इनके यहाँ प्रेम के अन्य प्रसंग भी है। इन प्रसंगों में अश्लीलता

---

[54] डॉ. सावित्री सिन्हा, मध्यकालीन हिन्दी कवयित्रियाँ (आत्माराम एण्ड सन्स, दिल्ली, 1953), पृ.सं. 179

[55] डॉ. सावित्री सिन्हा, मध्यकालीन हिन्दी कवयित्रियाँ (आत्माराम एण्ड सन्स, दिल्ली, 1953), पृ.सं. 179

का पूर्ण अभाव है। इन्होंने प्रेम प्रसंगों के वर्णन में परंपराबद्ध दूतीकाव्य, संकेत-स्थल अभिसार इत्यादि को ही अभिव्यक्ति का साधन बनाया है। कृष्ण की आतुरता इस दूती प्रसंग में देखिए। किस प्रकार दूती प्रेम का संदेश मानिनी राधा के पास लेकर आती है, कृष्ण के विरही हृदय की व्यथा सुनाती है-

प्रिय के प्राण समान हो, सीखी कहां सुभाय।
चख चकोर आतुर चतुर चंद्रानन दरसाय।।
चंद्रानन दरसाय अरी हा हा है तोसों।
वृथा मान यह छोड़ कही पिय की सुनि मोसों।।
सूहौ दृष्टि निहारि प्रिया सुनि प्रेम पहेली।
बिन झख अहि मणि जु हीन इन गति उन बेली।।[56]

कृष्ण के रूप के प्रति आकर्षण तथा नारी सुलभ लज्जा के बीच सुंदर कुंवरि की कल्पना देखिए-

मोतिन की बेली सी, मुटानी सकुचानि भरी,
आनन फिरानी कर कानन धरत है।
चकित चितोन रहे, अजान मुसुकानि दावे,
फावै भव भरी मौहें चित भरत है।
मैन मधुवान सजै। मुक्तन लता पै चंद,
घूंघट के अीट मानों मृगया करत हैं।।[57]

सुंदर कुंवरि के काव्य में माधुर्य भाव प्रधान है, किंतु कुछ पदों में विनय की अभिव्यंजना भी बड़ी सुंदर हुई है।

ग़रीब नेवाज़ तैं, गरीब मैं निवाजै क्यों न,

[56] सं. जगदीश्वर चतुर्वेदी, सुधा सिंह, स्त्री-काव्यधारा (अनामिका पब्लिशर्स, दिल्ली, 2006), पृ.सं. 133

[57] सं. जगदीश्वर चतुर्वेदी, सुधा सिंह, स्त्री-काव्यधारा (अनामिका पब्लिशर्स, दिल्ली, 2006), पृ.सं. 134

लाख लाख बातन की सूधी एक बात है।[58]

सुंदर कुंवरि का काव्य शृंगार प्रधान है। छंद ज्ञान से वे पूर्ण भिज्ञ थीं। दोहा, सवैया, कुंडलिया, कवित्त लगभग सभी प्रचलित छंदों का प्रयोग उनके काव्य में मिलता है। इन्होंने मुख्य रूप से ब्रजभाषा का प्रयोग किया। संस्कृत मिश्रित साहित्यिक ब्रजभाषा ही उनके काव्य की भाषा है जो यथोचित अलंकार से विभूषित होकर, भावनाओं की अभिव्यक्ति के लिए पूर्ण सक्षम बन गई हैं। इन तमाम विशेषताओं के बावजूद सुंदर कुंवरि के काव्य की उपेक्षा क्यों?

अलबेली अलि

इनके बारे में यह अभी तक स्पष्ट नहीं है कि वे स्त्री थीं या सखी संप्रदाय की स्त्री नामधारी। पीताम्बर दत्त बड़थ्वाल संपादित नागरी प्रचारिणी सभा की खोज रिपोर्ट में उन्हीं के द्वारा एक लिखित लेख में अलबेली अलि का नाम है। यह उल्लेख स्त्री के रूप में है। मिश्र बंधुओं ने लिखा है कि इनकी कविता 'भक्तमाल' और '300 पद' गोविंद गिल्लाभाई के निजी पुस्तकालय में है। 'रस मंजरी' में भी इनके कवित्त हैं। अलि के जीवन और रचनाकाल के बारे में और जानकारी नहीं मिलती। इनके लिखे हुए तीन ग्रंथों का विवरण खोज रिपोर्ट में मिलता है लेकिन अभी तक कोई स्वतंत्र ग्रंथ प्राप्त नहीं हुआ है। ये तीन ग्रंथ हैं-

1. अलबेली अलि ग्रंथावली।
2. गुलाई जी का मंगल।
3. विनय कुंडलिया।

अलबेली अलि ग्रंथावली में प्रिया जी का मंगल, राधा अष्टक और मांझ नाम के तीन छोटे-छोटे ग्रंथ संग्रहित हैं, जिनमें राधा जी के स्वरूप शृंगार तथा सावन संबंधी गीतों का चयन है।

नेह सनेह सनी आंगिया या सारी मन भावै।

सखी जानि के अपनी हमकौ अंतरौटा पहिनावै।।

[58] डॉ. सावित्री सिन्हा, मध्यकालीन हिन्दी कवयित्रियाँ (आत्माराम एण्ड सन्स, दिल्ली, 1953), पृ.सं. 182

बाल खुले पर सूहे फेंटा तूरा अजब सुहावै।

डोरी लगे डुपट्टे की लपटन लटकनि मन भावै।।

तिलक अलक माला मोतिन की कटि तट बंदी बांधे।

चुम्बन करत लाल मुख लाल वंशी कर घट कांधे।।[59]

अलबेली अलि ने सखी संप्रदाय की आराध्य देवी राधिका की वंदना तथा उनका महत्व वर्णन अपनी रचनाओं में बखूबी किया है। साथ ही नारी हृदय की आदिम आकांक्षा को भी व्यक्त किया है-

मो सों ही न कोई पातकी तुम तो अधिक उदार।

तुम हो तैसी कीजिए अहो रसिक सुकुमार।।

अहौ रसिक सुकुमार करूँ विनती कर जोरी।

बंध्यो रहै मन रैन दिना तुम प्रेम की डोरी।।

जो चाहो सो करो कुंवर त्रिविध मन हरना।

अलबेली अलि परी आन पद पंकज करना।।[60]

उनका दूसरा ग्रंथ है 'गुसाई जी का मंगल' । इस ग्रंथ में गुरू वंशी अली के संबंध में शृंगारपूर्ण बधाई के गीतों का संग्रह है। गुरू वंदना पदों में भी स्त्रीलिंग का प्रयोग है। तीसरा ग्रंथ है 'विनय कुंडलिया'। इस ग्रंथ में राधा की विनय अनेक प्रकार से कुंडलिया छंद में की गयी है। अपने लिए यहां भी स्त्रीलिंग का प्रयोग है। जो इन्हें स्त्री ही साबित करता है। इनकी रचनाएँ नारी हृदय के करीब है। अलबेली अलि में काव्य-प्रतिभा थी। उन्होंने अपनी काव्य-प्रतिभा के माध्यम से हिन्दी साहित्य में महत्वपूर्ण योगदान दिया।

छत्र कुंवरि बाई

---

[59] सं. जगदीश्वर चतुर्वेदी, सुधा सिंह, स्त्री-काव्यधारा (अनामिका पब्लिशर्स, दिल्ली, 2006), पृ.सं. 23

[60] सं. जगदीश्वर चतुर्वेदी, सुधा सिंह, स्त्री-काव्यधारा (अनामिका पब्लिशर्स, दिल्ली, 2006), पृ.सं. 23

छत्र कुंवरि बाई राठौर वंश से संबंधित थीं। महारानी बांकवती, नागरीदास जी, बनी ठनी जी तथा सुन्दर कुंवरि बाई भी इसी वंश से थी, जिन्होंनं कृष्ण काव्य-परंपरा को समृद्ध किया। छत्र कुंवरि बाई नागरीदास जी के पुत्र सरदार सिंह की पुत्री थीं। निम्बार्क संप्रदाय से परिवार की परंपरागत आस्था होने के कारण छत्र कुंवरि ने भी निम्बार्क मत को स्वीकार किया। संवत् 1745 में इन्होंने 'प्रेम विनोद' ग्रंथ की रचना की। प्रेम-विनोद में राधा-कृष्ण के जीवन के अनेक विनोदपूर्ण हास-परिहासों का चित्रण है। इनके प्रेम में हास-परिहास तथा प्रेम लीलाओं में रीतिकालीन काव्य परंपरा का दर्शन होता है। डॉ. सावित्री सिन्हा कहती हैं कि- ''उनकी राधा परब्रह्म की सिद्धि शक्ति नहीं, एक मुग्धा नायिका है तथा उनके कृष्ण उस मुग्ध भावना को सम्बल प्रदान करने वाले नायक।''[61]

गरवाहीं दीने कहूं, इक टक लखन लुभाहि।
रहि रहि द्वै द्वै पगन पै, चकित खड़ी रहि जाहिं।।
थकित खड़ी रहि जाहिं, दृगन दृग जुटै न छुटैं।
तन मन कूल अपार, दूहूँ कल लाह लूटें।।
नैनन नैनन सुलगन बैन सो नहिं बनिं आवै।
उमड़न प्रेम समुद्र थाह तिहिं नाहिंन पावै।।[62]

डॉ. सावित्री सिन्हा कहती हैं- ''कला की दृष्टि से इनकी रचनाओं पर कोई आक्षेप नहीं किया जा सकता। इनकी भक्तिमें अनन्यता तथा निर्वेद का स्पर्श भी नहीं, शृंगार की मादकता है।''[63] इनकी रचनाओं में शृंगार की मादकता युगीन दबाव था इस दबाव से राम भक्ति शाखा भी नहीं बच पायी थी।

बीबी रत्न कुंवरि

रत्न कुंवरि का उल्लेख प्राय: समस्त खोज रिपोर्टों में मिलता है। ये मुर्शिदाबाद की रहने वाली थीं। साधन संपन्न परिवार में इनका बचपन लाड़-प्यार में बीता। पतिगृह में भी ये अत्यंत सुखी रहीं। इनके

---

[61] डॉ. सावित्री सिन्हा, मध्यकालीन हिन्दी कवयित्रियाँ (आत्माराम एण्ड सन्स, दिल्ली, 1953), पृ.सं. 199

[62] डॉ. सावित्री सिन्हा, मध्यकालीन हिन्दी कवयित्रियाँ (आत्माराम एण्ड सन्स, दिल्ली, 1953), पृ.सं. 199

[63] डॉ. सावित्री सिन्हा, मध्यकालीन हिन्दी कवयित्रियाँ (आत्माराम एण्ड सन्स, दिल्ली, 1953), पृ.सं. 200

विषय में इनके पौत्र श्री राजा शिवप्रसाद सितारे हिन्द द्वारा किया उल्लेख महत्वपूर्ण है। वह लिखते हैं- ''वह संस्कृत में बड़ी पंडिता थीं, छहों शास्त्र की वेत्ता। फारसी भाषा भी इतनी जानती थीं कि मौलाना रूम की मसनवी और दीवान शक्स तबरेज जब कभी हमारे पिता को पढ़कर सुनाते तो उसका संपूर्ण आशय समझ लेती थीं। गाने बजाने में अत्यंत निपुण थीं। चिकित्सा यूनानी और हिन्दुस्तानी दोंनों प्रकार को जानती थीं। योगाभ्यास में परिपक्व थीं आदि-आदि।''[64] इन उक्तियों में बीबी रत्न कुंवरि का पूर्ण व्यक्तित्व छिपा है। उन्होंने अपने जीवन का अंतिम समय काशी में बिताया।

कृष्ण काव्य अपनी लीला प्रधानता के कारण प्राय: मुक्तक स्फुट पदों में ही व्यक्त हुआ है। कृष्ण की लीला ही कवियों का विषय रही है। रत्न कुंवरि जी की रचना कृष्ण काव्य परंपरा में अपवाद है। लीलाधारी कृष्ण के विशाल जीवन की एक घटना को आधार बनाकर उन्होंने 'प्रेम रत्न' नामक खंडकाव्य लिखा। इस ग्रंथ में भागवत के दशम स्कंध के बयासीवें अध्याय की कथा को लिया गया है। इसमें द्वारिकावासी कृष्ण का राजनीति में उलझा हृदय ब्रजवासियों के प्रेम की पुन: अनुभूति के लिए आकुल हो उठता है, उन्हीं दिनों सूर्यग्रहण पड़ता है। सूर्यग्रहण के अवसर पर इधर से द्वारिकाधीश कृष्ण अपनी सुसज्जित सेना सुहृदयजनों तथा द्वारिकावासियों को लेकर कुरूक्षेत्र स्नान के लिए प्रयाण करते हैं, उधर से ब्रजवासी भी अपने वियोग की ज्वाला में शीतलता के छींटे डालने का असफल प्रयास करने वहाँ आते हैं। एक ब्रजवासी कृष्ण के आने का समाचार ब्रजवासियों में फैला देता है और अंत में कृष्ण, नंद, यशोदा तथा राधिका से मिलते हैं और अतीत की स्मृतियों में खो जाते हैं। कुरूक्षेत्र में छ: मास वास करके गोपियों के जीवन में फिर से उत्साह उत्पन्न कर उनके जीवन की विह्लता को सांत्वना द्वारा वरदान और आश्वासन में परिविर्तत कर, कृष्ण द्वारिका लौट आये और ब्रजवासियों ने ब्रज की ओर प्रस्थान किया। भागवत के दशम स्कंध की इसी कथा को रत्न कुंवरि ने अपनी काव्य प्रतिमा से सृजित किया है।

[64] डॉ. सावित्री सिन्हा, मध्यकालीन हिन्दी कवयित्रियाँ (आत्माराम एण्ड सन्स, दिल्ली, 1953), पृ.सं. 201

वंदना द्वारा आरंभ कथा अपने विकास की ओर उन्मुख होने से पूर्व कृष्ण के अनेक अवतारों का वर्णन भी करती हैं। गजमुक्ति, लक्षागृह कांड, द्रौपदी चीरहरण, अजामिल उद्धार, ध्रुव व प्रह्लाद प्रसंग के वर्णन के साथ कथा का विकास कृष्ण के विशेष मन:स्थिति से होता है।

प्रभु के मन यह रहत सदाहीं। ब्रजवासिन तें भेंट्यो नाहीं।।

एक दिन दिनकर ग्रहण भयो जब। बहु नरनारि जात चले तब।।

यह सुनि यदुनंदन मनमानी। एक पंथ द्वै कारज ठानी।।[65]

इस खंडकाव्य में लेखिका ने जहाँ द्वारिका से कुरूक्षेत्र को जाते विशाल जनसमूह को शब्दों की तूली में उतारा है तो वहीं वो वातावरण के निर्माण में भी सफल रही हैं। कथा की नाटकीयता का निर्वहन भी लेखिका ने बेजोड़ ढंग से किया है। बाजार में जब नर भेष धारी गोप को कृष्ण के कुरूक्षेत्र आने की खबर मालूम होती है तो यशोदा का मातृत्व सब कुछ भूल वात्सल्य से विह्वल हो जाता है-

सुनतहि यशुमति है गई बौरी। ता ग्वालहिं पूछत उठि दौरी।।

आये श्याम सत्य कहु भैया मोहि दिखावहु तनक कन्हैया।।

निज लालन को कंठ लगाऊँ। दुसह विरह को ताप नसाऊँ।।

कह अब गहरु करत बेकाजहि। भेंटहु वेगि सकल ब्रजराजहिं।।[66]

डॉ. सावित्री सिन्हा इस खंडकाव्य एवं रत्नकुंवरि के बारे में कहती हैं- ‘‘खंडकाव्य की दृष्टि से ग्रंथ सफल है। प्रत्युत् यह कहना अनुचित न होगा कि कृष्ण काव्य के इतिहास की सर्वत्र व्याप्त पदात्मक शैली में ‘प्रेम रत्न’ एक अपवाद है। परंपरागत पद्यबद्ध काव्य-रचना का अनुकरण न कर एक ओर तो उन्होंने अपनी मौलिक प्रतिभा का परिचय दिया, दूसरी ओर कृष्ण काव्य की लीला प्रधानता में एक नया प्रयोग किया। उनकी भाषा संस्कृत गर्भित अवधी है। ...रत्न कुंवरि बाई का नाम कृष्ण काव्य परंपरा के नवीन प्रयोग तथा मौलिक उद्भावनाएं करने वाले कवियों के अंतर्गत रखा जा सकता है।’’[67]

[65] सं. जगदीश्वर चतुर्वेदी, सुधा सिंह, स्त्री-काव्यधारा (अनामिका पब्लिशर्स, दिल्ली, 2006), पृ.सं. 93

[66] सं. जगदीश्वर चतुर्वेदी, सुधा सिंह, स्त्री-काव्यधारा (अनामिका पब्लिशर्स, दिल्ली, 2006), पृ.सं. 95

[67] डॉ. सावित्री सिन्हा, मध्यकालीन हिन्दी कवयित्रियाँ (आत्माराम एण्ड सन्स, दिल्ली, 1953), पृ.सं. 205-206

चंद्रसखी

नवयुग ग्रंथ कुटीर से प्रकाशित 'चंद्रसखी का भजन' चन्द्रसखी के भक्ति विषयक गीतों का संकलन है। श्री ठाकुर राम सिंह एम.ए. के संपादकत्व में यह ग्रंथ बहुत आकर्षक रूप में प्रकाशित हुआ है। संग्रहकर्ता हैं - श्रीयुत नरोत्तम स्वामी एम.ए. विशारद, डूंगर कॉलेज, बीकानेर। संकलनकर्ता ने पदों के विषय के आधार पर उन्हें अनेक भागों में विभाजित कर अनेक शीर्षकों के अंतर्गत रखा है-

1. विनय	5. प्रेम माधुरी
2. बालकृष्ण	6. विरह वेदना
3. राधाकृष्ण	7. उद्धव संवाद
4. मुरली माधुरी	8. कर्म गीत

केवल बालकृष्ण शीर्षक को अगर छोड़ दिया जाए तो समस्त विभागों में माधुर्य भावना की प्रधानता है। बालकृष्ण में कृष्ण के बाल रूप तथा यशोदा का वात्सल्य अंकित है। इनके पदों में एक विशेष प्रकार का अनुराग है, जो गाने वाले और सुनने वाले के हृदयतंत्री को झकझोर देता है।

मन, वृंदावन चाल बसो रे।
मान घटो चाहे लोग हंसो रे।।
बिन दीपक के भवन किसो रे, बिना पुत्र परिवार किसो रे?
मन न मिले बासों मिलवो किसो रे, प्रीत करे फिर पडदो किसो रे?
प्रीति के कारण कुटुम्ब तजो है, नन्द को छबीलो मेरे मन में बस्यो रे।
चन्द्रसखी मोहन रंग रांची, ज्यूं दीपक में तेल रस्यो रे।।[68]

अपने गीत की गतिकी में बालकृष्ण की लीलाएँ तथा बालक कृष्ण की चंचलता के सजीव वर्णन करने में उन्हें पर्याप्त सफलता मिली है।

नंदलाल दही मोरो खागयो री।

---

[68] डॉ. सावित्री सिन्हा, मध्यकालीन हिन्दी कवयित्रियाँ (आत्माराम एण्ड सन्स, दिल्ली, 1953), पृ.सं. 207

लाख्चा कही मोरी एक न मानी, मनचाही बात बना गयो री।

तोड़ फोड़ सब दही मटुकिया, बरजोरी कर धमकाय गयो री।।[69]

डॉ. सावित्री सिन्हा ने चन्द्रसखी के उन भजनों की ओर भी इशारा किया है जिनका उल्लेख मान्य आलोचकों ने मीरा के भजन के रूप में किया है-

छोड़ी लंगर मोरी बंहियां गहो ना।

जो तुम मोरी बंहियाँ गहत हो, नैना मिलाय मेरो प्राण हरो ना।।

हम तो नारि पराये घर की, हमरे भरोसे गोपाल रहो ना।।

वृंदावन की कुंजगलिन में, रीत छांड़ अनरीत करो ना।।[70]

इनके गीतों में विरह की रात, चांदनी, सावन के सुहावनेपन में बोलते हुए पपीहा और कोयल की संवेदना की कल्पना तथा अनुभूति दोनों ही सुंदर है-

कब को गयो म्हारी सुधि ना लयी,

चांदनी-सी रात म्हारी वैरन भयी।

सावन मास सुहावना, बागां कोयलिया बोले।

पापी रे पपैया सो मेरी प्राण के छौले।

कोयल बचन सुहावणा, बोले अमृत बैण।

कहो काली कैसे भयी, किस विध शते नैण।

कृष्ण पधारे द्वारका, जब के बिछड़े मिले न।

कलप कलप कालो भयो, रोय रोय राते नैण।''[71]

कलप-कलप कर रात का काला होना चन्द्रसखी के अद्भुत कल्पना शक्ति का उदाहरण है। इनके गीतों में कृष्ण के प्रति अनुराग के साथ-साथ लोकगीतों का एक विशेष पुट दिखलाई पड़ता है।

---

[69] डॉ. सावित्री सिन्हा, मध्यकालीन हिन्दी कवयित्रियाँ (आत्माराम एण्ड सन्स, दिल्ली, 1953), पृ.सं. 207

[70] डॉ. सावित्री सिन्हा, मध्यकालीन हिन्दी कवयित्रियाँ (आत्माराम एण्ड सन्स, दिल्ली, 1953), पृ.सं. 207

[71] डॉ. सावित्री सिन्हा, मध्यकालीन हिन्दी कवयित्रियाँ (आत्माराम एण्ड सन्स, दिल्ली, 1953), पृ.सं. 208

पजन कुंवरि

कृष्णचरित्र पर काव्य रचना करने वाली बुंदेलखंड की पजन कुंवरि का उल्लेख आवश्यक है। नागरी प्रचारिणी सभा की खोज रिपोर्ट में उनके द्वारा रची हुई एक 'बारहमासी' का जिक्र मिलता है। इसमें उस संदेश का कलापूर्ण तथा मार्मिक वर्णन है जो कृष्ण ने उद्धव द्वारा गोपियों के पास भेजा था। इस बारहमासी में 45 पद हैं। यद्यपि संपूर्ण रचना प्राप्त न हो पाने के कारण खोज रिपोर्ट में कुछ ही पर हैं। ग्रंथ का आरंभ कुछ इस प्रकार होता है-

गणेशाय नम: श्री सरसुती देवी नम:।
श्री परम गुरवे नम्ह मय बारहमासी लिख्यते।
मधुप तुम बोलो तो भाई।
चैत हूँ ब्रज कुरत पाती ऊधो हाथ दई।
दीजो धाइ राधिका जू को ललतै बोल सई।।
आपनहु रथ तुरत मंगायो छत्र चौंर धारी।
आपने ही आभूषण दीन्हें अपनी मुकुट छरी।
कहौ जाइ सकल गोपिन से दोइ कर जोर इही।
राधा से बिनती कहु कहिये मेरी अरज सही।।[72]

पहली बार कृष्ण काव्य परंपरा में कृष्ण द्वारा उद्धव को 'मधुप' बोलते देखा गया है जो अटपटा लगता है। इसके पीछे दो कारण हो सकता है। पहला लेखिका की अज्ञानता या फिर लेखिका द्वारा व्यक्त व्यंजना। जो भी यह बारहमासा कृष्ण काव्य परंपरा में महत्वपूर्ण स्थान रखता है जिसमें ब्रज जाकर उद्धव गोपियों द्वारा बारहमासा के रूप में उनकी विरह-व्यथा की कहानी सुनते हैं।

इन्द्रावती

[72] डॉ. सावित्री सिन्हा, मध्यकालीन हिन्दी कवयित्रियाँ (आत्माराम एण्ड सन्स, दिल्ली, 1953), पृ.सं. 209

इन्द्रावती प्रणामी संप्रदाय (निजानंद संप्रदाय) के संस्थापक महामति प्राणनाथ की पत्नी थीं। आरंभ में इस पंथ का नाम धामी पंथ था। इन्द्रावती ने पति द्वारा स्थापित इस पंथ के प्रचार-प्रसार में महत्वपूर्ण योगदान दिया। 17वीं शताब्दी में महामति प्राणनाथ ने 'हिन्दू-मुस्लिम-सिख-ईसाई' आदि को एकसूत्र में बांधते हुए अक्षरातीत ब्रह्म कृष्ण की उपासना पर जोर दिया। उसके लिए उन्होंने वेद-पुराण, कुरान, बाइबिल, गुरू ग्रंथ साहिब, गीता आदि सारे महत्वपूर्ण धार्मिक ग्रंथों का अध्ययन कर कृष्ण के अक्षरातीत रूप को प्रतिष्ठित किया। इस संप्रदाय से संबंधित सारे व्यक्ति चाहे वो स्त्री हों या पुरुष सब के सब स्त्री हैं क्योंकि परमधाम में एकमात्र पुरुष कृष्ण हैं। इनके यहां सारी आत्माएं स्त्री रूप में है और ये सारी आत्माएं परमधाम की सखियां हैं।

निजानंद संप्रदाय से संबंधित व्यक्ति इंद्रावती को स्त्री नहीं मानता। उनके अनुसार इंद्रावती खुद महामति प्राणनाथ ही हैं। महामति प्राणनाथ के गुरू देवचंद जी महाराज ने प्राणनाथ को पूर्व जन्म की इन्द्रावती सखी कहा। इनके अनुसार महामति प्राणनाथ की दो पत्नी थीं- फूलबाई और तेज कुंवरि।

बहरहाल इन्द्रावती ने पंथ-प्रचार को विस्तार देने के लिए कई ग्रंथों की रचना की। प्रणामी संप्रदाय के वृहत ग्रंथ 'तारतम सागर' (स्वरूप साहब) में इन्द्रावती के रचे हुए सैकड़ों पद मिलते हैं। 'ऋत् ऋतु' ग्रंथ में छह ऋतुओं के वर्णन के साथ वियोग शृंगार का वर्णन भी है। 'षट् ऋतु नो कलस' भी प्रेम, विरह के व्यापक भावों का समर्पित ग्रंथ है। प्राणनाथ जी ने अपने मन से इन्द्रावती को उसके साथ के लिए जो बताया इन्द्रावती ने लिखा है-

> साथ के सुख करने इन्द्रावती को मैं कह्या।
> ता थें मुख इन्द्रावती से स्रवण कर भया।।[73]

एक ग्रंथ 'बारहमासी' में भी कृष्ण को संबोधित करके विप्रलम्भ शृंगार का वर्णन है। वर्षा ऋतु में किशोरियां अपने प्रियतम के स्नेह में डूबी हुई हैं किन्तु बेचारी विरहणी दूसरों की सुखानुभूति तथा प्रकृति के उद्दीपन से कष्ट झेलती और अपनी असमर्थता का अनुभव करती हुई कहती हैं-

[73] डॉ. सावित्री सिन्हा, मध्यकालीन हिन्दी कवयित्रियाँ (आत्माराम एण्ड सन्स, दिल्ली, 1953), पृ.सं. 86

हूँ तो बाला जी बिना

सोभा लिये वणराय, रूचे बरस्यां मेघ।

तेंडी मीडयो अंगनाये, घर आय कियो शृंगार।

...ऐ नीर तेरे आधार

छेम दीजिए।

एने बचण इन्द्रावती-अंग बाला तेडी लीजिए।[74]

'रामत रहस्य' भी संपूर्ण इंद्रावती द्वारा ही लिखा गया है। 'खिलवत कीर्तन' तथा 'आठो सागर' में भी इनके पद मिलते हैं। इस प्रकार सभी संप्रदायों में एकता के महाप्रयास में इन्द्रावती के स्वरों को भी देखा जा सकता है।

माधवी

माधवी मिथिला की कवयित्री थीं। उनकी रचनाओं में माधवी तथा माहाती दासि का प्रयोग मिलता है। माधवी बड़ी पंडिता और विदूषी थीं। माधवी के काव्य में माधुर्य भावना प्रधान है। वे चूंकि मिथिला की रहने वाली थीं, इसलिए उनकी रचनाओं में मैथिल कोकिल विद्यापति तथा चैतन्य प्रभु का प्रभाव दिखता है।

राधा माधव विलसहिं कुंज मांझ,

तनु तनु सरस परस रस पीबइ।

कमलिनी मधुकर राज।।

सचकित नागर कापइ थर थर,

शिथिल होयला सब अंग।

गदगद कंठ राध भेले अदरस,

सब होयब तुझ संग।।

[74] डॉ. सावित्री सिन्हा, मध्यकालीन हिन्दी कवयित्रियाँ (आत्माराम एण्ड सन्स, दिल्ली, 1953), पृ.सं. 86

सो धनि चंद मुख नैन किये हेरवै,

सुनिबै अभियमय बोल।

इह मांझे हिरदै ताप किये मेरब,

सांइ करब किये कोल।।

अइसन कतहु विलपति माधव,

सहचरि दूरहि हंसी।

अप रूप प्रेम विषादित अन्तर,

कह ताहि माधवी दासी।।[75]

राधा कृष्ण की दंपत्ति लीला वर्णन में चैतन्य प्रभु का प्रभाव स्पष्ट है। इनकी तिछलता में काम की ज्वाला नहीं भावना की तीव्रता है। इन तमाम स्त्री रचनाकारों के अतिरिक्त वृषमानु कुंवरि महारानी, महारानी सोन कुंवरि, कृष्णावती, स्वर्णलली, ब्रजदासी रानी बांकवती, बीरां आदि का नाम भी उल्लेखनीय है। राठौर वंश परंपरा से संबंधित ब्रजदासी रानी बांकवती प्रभु कृष्ण की छाया के सामने संसार को मिथ्या मानती है-

जैसे रेत चमक मृग देखी। जल के भ्रम मन माहिं सपेखी।।

जल भ्रम झूठ रेत ही सत्य। भ्रम सों देखि परत जल छत्य।।

जल भ्रम कांच महिं ज्यों होत। सो झूठी सति कांच उदोत।।

यों झूठो सबही संसारा। सांची हौं स्वामी करतारा।।[76]

तो वहीं राजस्थान की कवयित्री बीरां के मन और प्राण में कृष्ण के मुरली के धुन बस गए हैं। इसी कारण वो पूरी तन्मयता के साथ गाती हैं -

बस रहि मेरे प्राण मुरलिया, बस रहि मेरे प्राण।

[75] सं. जगदीश्वर चतुर्वेदी, सुधा सिंह, स्त्री-काव्यधारा (अनामिका पब्लिशर्स, दिल्ली, 2006), पृ.सं. 80

[76] डॉ. सावित्री सिन्हा, मध्यकालीन हिन्दी कवयित्रियाँ (आत्माराम एण्ड सन्स, दिल्ली, 1953), पृ.सं. 170

या मुरली ने काह न घोल्यो उन ब्रजवासिन कान।।
मुख की सौर लई सखियन मिल अमृत पीयो जान।
वृंदावन में रास रच्यो है, सखियाँ राख्यो मान।।
धुनि सुनि कान भई मतवारी अन्तर लग गयो ध्यान।
बीरां कहे तुम बहुरि बजाओ नंद के लाल सुजान।।[77]

रामकाव्य और स्त्री रचनाकार

रामकाव्य की अगर बात करें तो गोस्वामी तुलसीदास ने रामकाव्य के सारे तत्वों को निचोड़कर रख दिया। बाबा तुलसीदास के वृहत् एवं प्रभावशाली लेखन के बाद रामकाव्य पर संभवनाएँ नगण्य दिखने लगी। रामकाव्य पर रामचरितमानस से पहले और रामचरितमानस के बाद इतनी सहज, सरल सम्प्रेष्य भाषा एवं शैली में इतना बड़ा ग्रंथ अभी तक नहीं लिखा गया। तुलसी और उनके पूर्ववर्ती आचार्यों ने राम के धीर-गंभीर व्यक्तित्व को बड़े सलीके से गढ़ा था। राम का असाधारण मर्यादापुरूषोत्तम रूप, जीवन के प्रति उनका आदर्शवादी दृष्टिकोण एवं उनके नर रूप में नारायणत्व की छवि के प्रति श्रद्धा से नतमस्तक हुआ जा सकता था लेकिन उनके साथ समत्व की भावना नितांत असंभव था। भारतीय जनमानस के चेतन, अचेतन और अवचेतन मस्तिष्क में राम के जिस मर्यादापुरूषोत्तम रूप को बैठाया गया था, उससे सिर्फ आध्यात्मिक एवं धार्मिक विकास ही संभव था। इसी वजह से कबीर से लेकर तमाम निर्गुणिया संतों ने अपनी आध्यात्मिक यात्रा में दशरथ सुत राम का ही बखान किया है। रामकाव्य में स्त्री रचनाकारों को आत्माभिव्यक्ति की छूट नहीं मिली थीं। डॉ. सावित्री सिन्हा के अनुसार - ''राम के प्रति आस्था का आरंभ ही उनके नारायणत्व से होता था, इसलिए नारी हृदय में पूर्ण स्थान पाकर भी राम उनके जीवन के समभागी न बनकर एक नैसर्गिक महिमामय व्यक्तित्व बन गये। कृष्ण नारी के माधुर्य तथा वात्सल्य के आलम्बन बने, परंतु राम बालक होने के पूर्व भगवान थे, युवा होने के पूर्व ब्रह्मचारी और एक पत्नीव्रत थे, वे नारी के जीवन के नैतिक सम्बल बन सकते थे, उनके

[77] सं. जगदीश्वर चतुर्वेदी, सुधा सिंह, स्त्री-काव्यधारा (अनामिका पब्लिशर्स, दिल्ली, 2006), पृ.सं. 107

आदर्शों की प्रेरणा उनके कर्तव्यों का स्मरण दिला सकती थी, पर उनके अलौकिक आलोक के समक्ष अपनी दुर्बलताएँ खोल कर रख देने का साहस वह नहीं कर सकती थीं।''[78] रामकाव्य स्त्री रचनाकारों के लिए उतना सहज और सरल भी नहीं था जितना कृष्णकाव्य। कृष्णकाव्य की दार्शनिक पृष्ठभूमि जहाँ भावमूलक थी वहीं रामकाव्य के साधना मार्ग में ज्ञान, कर्म तथा भक्ति का अद्भुत सामंजस्य था। रामकाव्य के अंतर्गत आने वाले अनेक पात्रों के चरित्र में संघर्ष है, शारीरिक संघर्ष ही नहीं अंतर्द्वंद्वों का भी बाहुल्य है जबकि कृष्ण काव्य के पात्रों के यहाँ कोई लाग लपेट नहीं है, सहजता है, एक जीवन राग है। वहीं दूसरी ओर राम के आदर्शपूर्ण जीवन का पूर्णांग ही अधिकतर कवियों का वर्ण्य-विषय रहा है। राम के चरित्र की विशालता की अभिव्यक्ति के लिए प्रबंध शैली ही उपयुक्त थी। शिक्षा के अभाव में स्त्रियाँ प्रबंध के निर्वाह में अक्षम थीं। वो अपनी भावनाओं को व्यक्त कर सकती थी, गीतों की रचना कर सकती थी, लेकिन लोकमानस में बसे चिर-परिचित लोक कल्याणकारी चरित्र का निर्माण करने में अक्षम थीं।

'उत्तरमध्यकाल में रामभक्ति को भी शृंगारी भावनाओं से लपेटा गया। इस शृंगारी भावना के प्रवर्तक थे रामचरितमानस के प्रसिद्ध टीकाकार रामचरणदास जी, जिन्होंने पति-पत्नी-भाव की उपासना चलायी। इन्होंने अपनी शाखा का नाम 'स्वसुखी' रखा। स्त्री-भेष धारण करके पति 'लाल साहब' (यह खिताब राम को दिया गया है) से मिलने के लिए सोलह शृंगार करना। सीता की भावना सपत्नी रूप में करना आदि इस शाखा के लक्षण हुए। 'कोशलखंड' में राम की रास लीला, विहार आदि के अश्लील वृत्त कल्पित किये गये हैं और कहा गया है कि रासलीला तो वास्तव में राम ने की थी। रामावतार में वे 99 रास वे कर चुके थे। एक ही शेष था जिसके लिए फिर कृष्ण रूप में अवतार लेना पड़ा आदि आदि। अब राम की 'तिरछी चितवन' और 'बांकी अदा' के गीत गाये जाने लगे।''[79]

''हमरे पिय ठाढ़े सरजू तीर
छोड़ि लाज मैं जाय मिली जहँ खड़े लखन के बीर।।

[78] डॉ. सावित्री सिन्हा, मध्यकालीन हिन्दी कवयित्रियाँ (आत्माराम एण्ड सन्स, दिल्ली, 1953), पृ.सं. 216

[79] आचार्य रामचंद्र शुक्ल, हिन्दी साहित्य का इतिहास (विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी 2013), पृ.सं. 97

मृदु मुसकाय पकरि कर मेरी खैंचि लियी तब चीर।।

झाऊ वृक्ष की झाड़ी भीतर करन लगे रति धीर।।[80]

'जब शृंगारी उपासना में चिरान छपरा के जीवारामजी ने अपने 'तत्सुखी' शाखा में पति-पत्नी-भावना के स्थान पर 'सखी भाव' उपासना का खूब प्रचार प्रसार किया तब रीवां के महाराज रघुराज सिंह की सम्मति से चित्रकुट में प्रमोदवन बनवाए गए। चित्रकूट को अब वृंदावन के समकक्ष देखा गया और वहाँ के कुंज भी ब्रज के से क्रीड़ा कुंज माने गये।'[81] तब स्त्री रचनाकारों को एक छूट मिली। राम काव्यधारा की कवयित्रियों की संख्या बहुत ही कम है। जिन स्त्रियों ने राम के चरित्र को आलम्बन बनाया है। वे उनके चरित्र को निभा नहीं पाई। राम की कथा राजा-रानी की कथा बनकर रह गई। आइए स्त्री रचनाकारों को देखें।

मधुर अली

रचनाकाल की दृष्टि से मधुर अली रामकाव्य धारा की प्रथम कवयित्री मानी जाती हैं। इनका जन्म संवत् 1615 वि. में हुआ तथा ये ओरछा-नरेश मधुकर शाह के आश्रय में रहती थीं। इनका उल्लेख गौरीशंकर द्विवेदी के 'बुंदेल-वैभव' के प्रथम भाग के अतिरिक्त किसी अन्य स्थान पर नहीं होता। इनके रचे हुए दो ग्रंथों का उल्लेख मिलता है। रामचरित्र और गनेस देव लीला। परंतु इन दोनों ही ग्रंथों के अप्राप्य होने के कारण उनके काव्य के विषय में कुछ निर्धारित करना असंभव है।

प्रेम सखी

प्रेमसखी का उल्लेख नागरी प्रचारिणी सभा की खोज रिपोर्ट में मिलता है। गौरीशंकर द्विवेदी ने बुंदेलखंड के कवियों के इतिहास 'बुंदेल वैभव' के द्वितीय खंड में प्रेमसखी का उल्लेख किया है। इनका जन्म अनुमान से संख्या 1800 तथा रचनाकाल संख्या 1840 के लगभग माना जाता है। लेखक का कथन है कि अनेक हस्तलिखित संग्रह ग्रंथों में इनकी कविताएँ यत्र-तत्र बिखरी हुई मिलती हैं। नागरी प्रचारिणी सभा की खोज रिपोर्ट में प्रेमसखी का उल्लेख स्पष्ट रूप से स्त्री के रूप में नहीं है, कुछ

[80] आचार्य रामचंद्र शुक्ल, हिन्दी साहित्य का इतिहास (विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी 2013), पृ.सं. 98

[81] आचार्य रामचंद्र शुक्ल, हिन्दी साहित्य का इतिहास (विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी 2013), पृ.सं. 97

इतिहासकार भी इसे मानने से इनकार करते हैं। लेकिन डॉ. सावित्री सिन्हा पुरुषों की माधुर्य संबंधी रचनाओं एवं स्त्रियों की माधुर्य संबंधी रचनाओं का विभेद कर इस निष्कर्ष पर पहुंचती है कि प्रेमसखी स्त्री रचनाकार हैं। डॉ. सावित्री सिन्हा ने प्रेम सखी को रामकाव्य की सर्वश्रेष्ठ कवयित्री माना है। डॉ. सिन्हा ने इनके पदों को विषय के आधार पर दो भागों में विभाजित किया है-

I. नख शिख के पद

II. स्फुट विषयों पर लिखे गये पद।

नख शिख पद में राम के सौंदर्य का वर्णन किया गया है। राम के प्रति आस्था, श्रद्धा के साथ-साथ इनकी रचनाओं में स्त्री के भाव-जगत की मृदुल भावना भी दिखती है। एक ओर राम के चरणों की महान शक्ति ... 'नख विधु पूजन समन सब दुखन ये। रघुवंश भूषन के राजत चरन हैं।।' में व्यक्त होती है तो वहीं पुष्पवाटिका में पुष्प चुनते हुए कामदेव से भी अधिक सुकुमार कौशल कुमार राम-लक्ष्मण को देखकर मुग्ध हैं और साथ ही इस बात से परेशान भी हैं कि कहीं उनके कोमल पांवों में फूलों की पंखुड़ियाँ चुभ न जाएं।

कौशल कुमार सुकुमार अति भारह ते,
आली घिर आई तिन्हें सोभा त्रिभुवन की।
फूल फुलबाई में चुनत दीउ भाई, प्रेम,
सखी लखि आई गहे लतिका द्रुमन की।
चरन लुनाई दृग देखे बन आई जिन
जीती कोमलाई ओर ललाई पदुमन की।
चलत सुमाइ मेरौ हियारां डराई आय,
गड़ि मति जाएँ पाँव पांखुरी सुमन की।[82]

[82] सं. जगदीश्वर चतुर्वेदी, सुधा सिंह, स्त्री-काव्यधारा (अनामिका पब्लिशर्स, दिल्ली, 2006), पृ.सं. 70

राम के महिमा वर्णन के अतिरिक्त स्फुट विषयों पर रचित पदों में काव्यकला का उत्कृष्ट रूप दिखता है। भावुक कल्पना के माध्यम से वर्षा ऋतु की तरल हरीतिमा में कवयित्री ने मदमाते मयूर, कोकिल, दादूर, झिल्ली के स्वर को सुना है। बादलों के बीच बक पंक्तियों का विहार देखा है तो वहीं ऐसे पावस की वितान में छाया में सरयू तट पर खड़े परस्पर कंधों पर हाथ रखे राम-लक्ष्मण की शोभा को भी निहारा है-

छोटे छोटे कैसे तृण अंकुरित भूमि भये,
जहां तहां फैली इन्द्र वधू वसुधान में।।
लहक-लहक सीरी डोलत बयार और,
बलित मयूर माते सघन लतान में।।
धुरवा पुकरिं पिक, दादूर पुकारिं बक,
बांधि कै कतारें उड़े करि बदरान में।।
अंस भुज डारे खरे सरजू किनारे प्रेम,
सखी वारि डारे देख पावस वितान में।।[83]

प्रेमसखी के काव्य में श्रद्धा और प्रेम का सुंदर समन्वय है जो इन्हें भक्ति मार्ग पर ले जाता है। इनके यहाँ राम के विराट रूप की गरिमा एवं महिमा का अंकन बड़ी ही मार्मिकता से हुआ है जिसमें माधुर्य भाव का स्वस्थ तथा प्रकृत रूप व्यक्त होता है।

प्रेमसखी के अतिरिक्त रामकाव्य धारा में मारवाड़ महाराजा मानसिंह की दो पत्नियों का भी जिक्र होता है - प्रताप कुंवरि बाई और तुलछराय। प्रताप कुंवरि बाई जोधपुर के रावलीत वंश के भावी ठाकुर गीयन्ददास जी की पुत्री थी। निर्मल जी ने इनके पंद्रह ग्रंथों का उल्लेख किया है, सभी ग्रंथ रामकथा से संबंधित हैं। ये ग्रंथ है- रामचंद महिमा, रामगुण सागर, रघुवर स्नेह लीला, राम सुजस पचीसी, राम प्रेम सुखसागर पत्रिका, रघुनाथ जी के कवित्त, भजन पद हरजस, प्रताप विनय श्री रामचन्द्र विनय, हरिजस

[83] सं. जगदीश्वर चतुर्वेदी, सुधा सिंह, स्त्री-काव्यधारा (अनामिका पब्लिशर्स, दिल्ली, 2006), पृ.सं. 70

गायन आदि। इनकी रचनाओं में माता-पिता के वात्सल्य चित्र हैं तो वहीं यौवनावस्था में मानसिंह जैसा धनी-मानी पति पाकर वे अपना जीवन सार्थक मानती हैं-

पति समान नहिं दूजा देवा। तातें पति की कीजैं सेवा।।
पति परमातम एक समाना। गावें सब ही वेद पुराना।।[84]

पति के निधन ने इनके जीवन के उल्लास की नींव हिला दी-

पति वियोग दु:ख भयी अपारा। हुआ सकल सूना संसारा।
कछु न सुहाय नैन बहे नीर। पति बिन कौन बंधावे धीरा।।[85]

मानसिंह की अकाल मृत्यु से वैधव्य की निराशा में भगवद् भजन तथा दानपुण्य इत्यादि कर्मों में प्रवृत्त हुई। सहस्त्रों रुपये परमार्थ में व्यय किए। अनेक मंदिरों की स्थापना कराई। इनके काव्य का विषय राम के चरित्र की महानता का वर्णन करना है जो ये अपनी रचनाओं में करती भी हैं। लेकिन इस वर्णन में सिर्फ कथाकार की विवरणात्मकता दिखती है, कवियित्री एक प्रभावशाली चित्र अंकित करने में सफल हुई हैं लेकिन चित्र में चित्रकार की कोई विशेष कल्पना नहीं है। ऐसा लगता है ये विवरण सामान्य राजा रानी की तरह है यथा सिंहासन पर बैठा मानसिंह सामने हों और प्रताप कुंवरि बाई उन्हें ही लक्ष्य कर कविता लिख रही है-

उँचो सिंहासन अति अनूप। पा बीच बिराजत ब्रह्म रूप।।
घर-घर प्रति व्यापक एक गोत। पट तंतु जथामिलि ओतपोत।।[86]

x x x x x x x x

मणिजटित खंभ सुंदर कपाट। देहली रची विद्रुम सुधार।।
भीतिन पर माणिक लगे लाल। चिल्लाय मनोकन वेलि जाल।।
चहुँ दिशा विराजति विविध बाग। ता महिं कल्पतरू रहे लाग।।[87]

---

[84] सं. जगदीश्वर चतुर्वेदी, सुधा सिंह, स्त्री-काव्यधारा (अनामिका पब्लिशर्स, दिल्ली, 2006), पृ.सं. 58

[85] सं. जगदीश्वर चतुर्वेदी, सुधा सिंह, स्त्री-काव्यधारा (अनामिका पब्लिशर्स, दिल्ली, 2006), पृ.सं. 59

[86] सं. जगदीश्वर चतुर्वेदी, सुधा सिंह, स्त्री-काव्यधारा (अनामिका पब्लिशर्स, दिल्ली, 2006), पृ.सं. 61

डॉ. सावित्री सिन्हा इनकी कविताई पर ध्यान देते हुए कहती हैं कि- ''रामकाव्य रचयित्री के रूप में प्रताप कुंवरि का स्थान साधारण कवियों से नीचे ही आयेगा। इनकी रचनाओं की संख्या यद्यपि 15 है, परंतु इन रचनाओं का साहित्यिक मूल्य अधिक नहीं है। साधारण भाव, साधारण वर्णन-शैली तथा साधारण प्रतिभा ही उनके काव्य में दृष्टिगत होती है। राम काव्य के परंपरागत छंद, दोहा और चौपाइयों को तो उन्होंने ग्रहण ही किया है, साथ-साथ रामकाव्य की प्रचलित भाषा अवधी को भी उन्होंने अपनाया है। उर्दू तथा फारसी के शब्दों का पुट भी इनकी भाषा में मिलता है। संस्कृत के तत्समों की अपेक्षा तद्भवों की संख्या भी अधिक है। भावपक्ष तो इनके काव्य का निर्बल है ही कलापक्ष में भी सौंदर्य की चेष्टा नहीं है।''[88] इस प्रकार प्रताप कुंवरि बाई रामकाव्य की साधारण कवयित्री ही साबित होती हैं।

तुलछराय

मानसिंह की रक्षिता रानी तुलछराय ने प्रताप कुंवरि के सत्संग से काव्य-रचना का अभ्यास किया था। इन्होंने कोई प्रबंधात्मक शैली नहीं अपनायी। कृष्णकाव्य के भावपूर्ण शैली को समेटकर इन्होंने रामकाव्य के कुछ पद रचे। इनकी रचनाओं में राम का रसिक व्यक्तित्व दिखलाई पड़ता है जो सखियों के साथ होली खेलने में मग्न है-

''सीताराम जी से खेलूँ मैं होरी। भर लूँ गुलाल की झोरी।
सजक आई जनक किशोरी। चहुँ बंधुन की जोरी।।
मीठे बोल सियावर बोलत। सब सखियन की तोरी।।
हंसे हर सूं कर जोरी।[89]

इनकी रचना का माधुर्य कृष्ण की गोपियों के करीब जाकर बैठता है। इनके गीतों में राम का लीला-रूप कृष्ण के रूप के समान दिखता है। वो गोपियों की तरह ही 'आय बसी धनुधारी' का राग अलापती है।

---

[87] सं. जगदीश्वर चतुर्वेदी, सुधा सिंह, स्त्री-काव्यधारा (अनामिका पब्लिशर्स, दिल्ली, 2006), पृ.सं. 61

[88] डॉ. सावित्री सिन्हा, मध्यकालीन हिन्दी कवयित्रियाँ (आत्माराम एण्ड सन्स, दिल्ली, 1953), पृ.सं. 231

[89] सं. जगदीश्वर चतुर्वेदी, सुधा सिंह, स्त्री-काव्यधारा (अनामिका पब्लिशर्स, दिल्ली, 2006), पृ.सं. 49

सियावर श्याम लगे मोय प्यारे हैं।

क्रीट मुकुट मकराकृत कुंडल भाल तिलक सुखकारी है।

मुख की शोभा कहा कहूँ उनकी, कोटि चंद उज्यारो है।।

गल बिच कंठी है रतनारी, बनमाला उर धारी है।

केसरिया जामो जरकस को, दुपटो लाल लरपाटी है।

पीताम्बर पर कटि पर सोहे, पायन झंझर न्यारी है।

तुलछराय कहे मो हिरदय बिच । आय बसो धुनधारी है।।[90]

शृंगार काव्य और स्त्री रचनाकार

उत्तरमध्यकाल के रचनाकारों ने मुख्यत: शृंगार संबंधी ग्रंथों की रचना की। इसी कारण से पंडित रमाशंकर शुक्ल 'रसाल' ने इस काल को 'शृंगार काल' भी कहा। शृंगार काव्य ने स्त्री को भक्ति काव्य के आध्यात्मिक बंधनों से मुक्त किया। रीतिकालीन काव्य में स्त्री अपने रहस्य के पर्दे से बाहर आती हैं। अब स्त्री-सौंदर्य के हर पहलू को कलात्मक बारीकियों के साथ चित्रित किया जा रहा था। इस चित्रण में जहां पुरुषों ने बढ़ चढ़कर हिस्सा लिया, वहीं स्त्रियों ने भी शृंगार काव्य में सशक्त हस्तक्षेप किया। इन स्त्रियों ने भी समकालीन कवियों की तरह स्त्री को शृंगार के एक उपकरण के रूप में प्रस्तुत किया। इन स्त्री रचनाकारों के यहां भी आदर्श नायिका वही है जिसके दर्शन-मात्र से हृदय में शृंगार रस का उद्रेक हो। ''रीति-काव्य में स्त्री कवियों का एक समुदाय ऐसा है जिनकी कविताओं को मुख्यधारा की कविताओं से अलगाना मुश्किल है। भाव के धरातल पर शृंगार के संयोग-वियोग के विविध उपकूलों से गुजरने वाली ये कविताएँ अपनी प्रभावोत्पादकता में किसी से कम नहीं। ...प्रवीण राय, शेख और सुंदर कली की रचनाएँ रीतिकाव्य की मुख्य धारा की कविताएं हैं। उद्दाम प्रेम का निर्भीक चित्रण करने वाली ये कविताएँ साहित्य के इतिहास में अपना महत्वपूर्ण स्थान रखती हैं। लौकिक प्रेम की निर्भीक अभिव्यक्ति जिस स्वतंत्रता की मांग करती है, वैसी स्वतंत्रता उस समय के समाज में स्त्रियों को उपलब्ध नहीं थी। फिर भी प्रवीण राय

[90] सं. जगदीश्वर चतुर्वेदी, सुधा सिंह, स्त्री-काव्यधारा (अनामिका पब्लिशर्स, दिल्ली, 2006), पृ.सं. 49

और शेख की कविताएँ इस बात के प्रमाणिक दस्तावेज हैं कि देशकाल, समाज और परिवार के बंधन को तोड़ना नहीं बल्कि इसके दबाव से मुक्त होकर व्यक्तिगत विशेषताओं का प्रस्तुतीकरण ही स्व-चेतना है। जो केवल स्त्री-चेतना ही नहीं बल्कि किसी भी चेतना की आधारभूमि है।''[91]

प्रवीण राय पातुर

वारांगना कुल से संबंधित प्रवीण राय, ओरछा नरेश महाराज राम के भाई इंद्रजीत सिंह की रक्षिता थीं। इनके सौंदर्य और विद्वता की प्रशंसा आचार्य केशवदास ने मुक्तकंठ से की है। प्रवीण राय केशव की काव्य-प्रेरणा थी। कवि प्रिया में आचार्य केशवदास ने प्रवीण राय की अतिशयोक्तिपूर्ण प्रशंसाओं के पुल बांध दिये हैं। शारदा, लक्ष्मी, सत्यभामा इत्यादि प्रसिद्ध नारियों से साम्य स्थापित करके उन्होंने इनके महत्व वर्णन में सुंदर काव्य की रचना की है-

राय प्रवीन कि शारदा, रुचि-रुचि राजत अंग।
वीणा पुस्तक धारिनी, राजहंस सुत संग।[92]

प्रवीण राय काव्य-रचना में प्रवीन थी। इसका संकेत 'कवि प्रिया' के निम्न पद से मिलता है-

नाचति गावति पढ़ति सब, सबै बजाबत बीन।
तिनमें करत कवित्त एक, राय प्रवीन प्रवीन।।[93]

प्रवीण राय द्वारा रचित कोई स्वतंत्र ग्रंथ प्राप्त नहीं होता है, लेकिन स्फुट रचनाएं पर्याप्त मात्रा में मिलती हैं। इनके पदों का वर्ण्य-विषय शृंगार ही है। संयोग शृंगार में इनका मन अधिक रमा है। प्रेमी युगल की मिलनाकांक्षा का चित्रण इनके पदों में देखा जा सकता है-

नीकी धनी गुननारि निहारि नैवाखिउ अंक्षिया ललचाती।
जान अजानत जीरति दीठ बसीठ से ठौरन औरन हती
आतुरता पिय के जिय की लखि प्यारी प्रवीन बहै रसमाती

[91] पूनम कुमारी, मध्यकालीन हिंदी काव्य का स्त्री पक्ष (अनामिका पब्लिशर्स, दिल्ली, 2015), पृ.सं. 122-123
[92] डॉ. सावित्री सिन्हा, मध्यकालीन हिन्दी कवयित्रियाँ (आत्माराम एण्ड सन्स, दिल्ली, 1953), पृ.सं. 240

[93]डॉ. सावित्री सिन्हा, मध्यकालीन हिन्दी कवयित्रियाँ (आत्माराम एण्ड सन्स, दिल्ली, 1953), पृ.सं. 240

ज्यों-ज्यों कछु न बसाति गोपाल की त्यों-त्यों फिरै-मन में मुस्काती।[94]

इस पद में नायिका के सौंदर्यभिमान का चित्रण है। नायक की आंखों में मिलने की आकांक्षा हेतु आतुरता देख नायिका मुस्करा देती है। ज्यों-ज्यों मिलन हेतु नायक की आतुरता बढ़ती है नायिका की मुस्कान बढ़ती जाती है। प्रवीण राय की नायिका मानिनी है। यहां मानिनी नायिका का वर्णन पितृसत्तात्मक समाज में ज्यादा महत्वपूर्ण मालूम पड़ता है। क्योंकि अपने आत्मसम्मान और अपने व्यक्तित्व को सुरक्षित रखना स्त्री की गरिमा को सुरक्षित रखना है-

मान के बैठी है प्यारी प्रवीण सो देखे बने नहीं जात बनायो

आतुर है अति कौतुक सों उत लात चलै अति मोद बढ़ायो

जोरि दोऊ कर ठाढ़े भये करि कातर नैन सो सैन बतायो।

देखत बेंदी सखी की लगी मित हेरयो नहीं इत यो नहरायो।[95]

प्रवीण राय की मानिनी नायिका अपने स्व को बचाने में प्रतिबद्ध है तो वहीं अपनी प्रेमाभिव्यक्तियों के चित्रण में अत्यंत उन्मुक्त भी है। अपनी प्रेमाभिव्यक्ति के चित्रण में जिस निर्भीकता का परिचय प्रवीण राय ने दिया है, वह अद्भुत है।

बैठि परयंग पै निसंक है के अंक भरौं,

करोंगी अधट पान मैन मत्त मिलियौ।

सैन कियों उर लाय के पानि दुहूँ कुच सम्पुट कीने।[96]

इस तरह निशंक होकर अंक में भरना रीतिकालीन कवियों की सामान्य विशेषता है। मुक्त, निर्द्वंद्व प्रेमाभिव्यक्ति का चित्रण रीतिकालीन कवियों ने खूब किया है लेकिन एक स्त्री द्वारा ऐसा चित्रण अप्रत्याशित है। इसलिए सराहनीय भी है। प्रवीण राय पातुर की सराहना सिर्फ प्रेमाभिव्यक्ति के लिए ही नहीं होती वरन् उन्होंने भाषा का सुंदर प्रयोग किया है। इनकी संस्कृतनिष्ठ साहित्यिक ब्रजभाषा देखकर

---

[94] डॉ. सावित्री सिन्हा, मध्यकालीन हिन्दी कवयित्रियाँ (आत्माराम एण्ड सन्स, दिल्ली, 1953), पृ.सं. 242

[95] डॉ. सावित्री सिन्हा, मध्यकालीन हिन्दी कवयित्रियाँ (आत्माराम एण्ड सन्स, दिल्ली, 1953), पृ.सं. 245

[96] डॉ. सावित्री सिन्हा, मध्यकालीन हिन्दी कवयित्रियाँ (आत्माराम एण्ड सन्स, दिल्ली, 1953), पृ.सं. 243

अनुमान लगाया जा सकता है कि इन्हें संस्कृत का पर्याप्त ज्ञान था। 'कमल कोक श्रीकल मंजीर कल धौत कलश हर/उच्च मिलन अति कठिन दमक बहुत स्वल्प नीलधर' जहाँ इनके भाषायी परिपक्वता की ओर इशारा करता है वहीं प्रवीण राय के अनेक पदों से अभिलक्षित होता है कि उन्हें काव्य परिपाटी का ज्ञान था।

''कुर कुक्कुट कोटि कोठरी कितारि राखौं,
चुनि दै चिरैयन को मूंदि राखों जलियौं।
सारंग में सारंग सुनाइ के प्रवीन बीना,
सारंग के सारंग की जीति करौ थलियौं।
बैठि पर्यक पै निलंक हौ के अंक भरौं,
करौंगी अधर पान मैन मत्त मलियौं।
मोहिं मिलें इन्द्रजीत धीरज नरिन्दराय,
एहो चन्द आज नेकु मंद गति चलियौ।[97]

नायिका द्वारा रात्रि को यथावत बनाये रखने का प्रयास और विहान को रोकने की कल्पना प्रसूत चेष्टा हमारी काव्य-परंपरा का अंग है क्योंकि विहान होते ही प्रेमी युगल एक-दूसरे से बिछुड़ जाएंगे। ठीक इसी तरह प्रवीण राय की नायिका विहान की प्रथम रश्मि को रोकने के लिए कोठरी बंद कर देती है, पक्षियों के कलरव को रोकती है और आखिर में अत्यंत कातर स्वर में चंद्रमा से प्रार्थना करती हैकि वह अपनी गति धीमी कर ले।

प्रवीण राय विद्वान कवयित्री तो थी ही लेकिन वारांगना कुल से संबंधित होने के बावजूद महाराज इंद्रजीत के प्रति पूर्ण समर्पित थीं। इस संदर्भ में अकबर, इंद्रजीत और प्रवीण राय से संबंधित बहुचर्चित घटना हम जानते ही हैं। प्रवीण राय के संगीत, नृत्य तथा काव्य प्रतिभा की प्रसिद्धि दूर-दूर तक थी। कहा जाता है कि अकबर ने प्रवीण राय के काव्य-कौशल, संगीत और नृत्य की प्रशंसा सुन उसे अपने दरबार

[97] डॉ. सावित्री सिन्हा, मध्यकालीन हिन्दी कवयित्रियाँ (आत्माराम एण्ड सन्स, दिल्ली, 1953), पृ.सं. 244

में बुलवाया। पतिव्रत धर्म भंग न हो इसलिए प्रवीण राय ने एक पद लिखकर काव्य-रसिक, कला मर्मज्ञ अकबर के पास पहुंचाया जिसमें विनती का स्वर था। लेकिन अकबर ने इसे अपनी अवमानना माना। बाद में प्रवीण राय को शहंशाह के दरबार में उपस्थित होना पड़ा। उन्होंने अकबर की महानता और वीरता के गीत रचकर उन्हें सुनाया। प्रवीण राय ने अपनी काव्य-कुशलता से शहंशाह को प्रसन्न किया। शहंशाह द्वारा दिए गए दोहों को पूर्णकर, प्रवीण राय ने अपनी काव्य प्रतिभा से शहंशाह को प्रभावित किया। अकबर चाहते थे कि प्रवीण राय उनके दरबार में रहे। उसने प्रवीण राय को धन सम्मान का लोभ दिया। एक वारांगना को इससे अधिक क्या चाहिए? मुगल वंश का शहंशाह उसे दरबार में रखना चाहता हो लेकिन प्रवीण राय ने बड़ी चालाकी से इसे ठुकराते हुए महाराज इंद्रजीत के प्रति अपने संपूर्ण समर्पण को दिखाया। प्रवीण राय ने निम्न दोहा भेजकर अकबर के सामने अपनी इच्छा अभिव्यक्त की-

विनती राय प्रवीण की, सुनिये साह सुजान।
जूठी पतरी भखत है, बारी वाय स्वान।[98]

अकबर ने प्रवीणराय की इच्छा का सम्मान किया और उन्हें इंद्रजीत के पास वापस भेज दिया।

तीन तरंग

इनका जन्म संवत् 1612 तथा रचनाकाल संवत् 1640 माना जाता है। तीन तरंग अरिधा नरेश महाराज मधुकर शाह के दरबार की आरित वेश्या थीं। इनका लिखा हुआ ग्रंथ ‘कोक शास्त्र’ है।

शेख

शेख का उल्लेख प्राय: समस्त खोज रिपोर्ट तथा इतिहास ग्रंथों में मिलता है। शेख का जन्म एक मुसलमान परिवार में हुआ था, ये जाति की रंगरेज थीं तथा कपड़े रंगकर जीविका निर्वाह करती थीं। इनका संबंध रीतिकालीन कवि आलम (रचनाकाल संवत 1740 से संवत 1760) से था। आलम जाति के ब्राह्मण थे। शेख की काव्य प्रतिभा एवं वाक्पटुता के कारण आलम शेख से काफी प्रभावित हुए और दोनों में प्रेम संबंध स्थापित हुआ। बाद में आलम इस्लाम धर्म स्वीकार कर शेख के साथ परिणय सूत्र में

[98] डॉ. सावित्री सिन्हा, मध्यकालीन हिन्दी कवयित्रियाँ (आत्माराम एण्ड सन्स, दिल्ली, 1953), पृ.सं. 241

बंधे। आलम और शेख के प्रेम-संबंध से संबंधित विचित्र कथा प्रचलित है। कहते हैं कि आलम ने एक बार उसे पगड़ी रंगने को दी, जिसकी खूंट में भूल से कागज का एक चिट बंधा चला गया। उस चिट में दोहे की वह आधी पंक्ति लिखी थी 'कनक हरी सी कामिनी काहे को कटि छीन'। शेख ने दोहा इस तरह पूरा करके, 'कटि को कंचन काटि बिधि कुचन मध्य घटि दीन', उस चिट को फिर ज्यों-की-त्यों पगड़ी की खूंट में बांधकर लौटा दिया। उसी दिन से आलम-शेख एक दूसरे से प्रेम करने लगे और आगे चलकर विवाह कर साथ-साथ जीवन यापन किया।

शेख तथा आलम के प्रणय के आरंभ की कथा यद्यपि प्रसिद्ध है लेकिन मुंशी देवी प्रसाद जी के अनुसार जिस पद की पूर्ति शेख ने की थी, वह दोहा नहीं एक कवित्त था। वह पद इस प्रकार था-

प्रेम के रंग पगे जगमगे जामिनी के,
जीवन की जोति जोग जोर उमगत है।
मदन के माते मतवारे ऐसे घूमत हैं,
झूमत हैं झूकि-झूकि झंपि उघरत हैं।।
आलम सा नवल निकाई इन नैननि की
पांखुरी पदुम पै भंवर थिरकत हैं।

शेख द्वारा रचित अंतिम पंक्ति है-

चाहत है उड़िबै का देखत मयंक मुख,
जानत हैं रैनि ताते ताहि में रहत हैं।।[99]

कहा जाता है कि शेख का जीवन काफी स्वच्छंद था। इनके स्वतंत्र और विनोदी वृत्ति की पुष्टि शहजादा मुअज्जम के हास-परिहास में भी लक्षित होता है। शेख राजदरबार इत्यादि स्थानों पर स्वच्छंदतापूर्वक आती जाती थीं। एक दिन शहजादा मुअज़्ज़म ने शेख से पूछा, ''क्या आलम की पत्नी आप ही हैं?'' शेख ने उत्तर दिया, ''हां जहाँपनाह! जहान की मां मैं ही हूँ।'' शेख और आलम के संयोग

[99] डॉ. सावित्री सिन्हा, मध्यकालीन हिन्दी कवयित्रियाँ (आत्माराम एण्ड सन्स, दिल्ली, 1953), पृ.सं. 253

से ‘जहान’ नामक पुत्र का जनम हुआ। ‘‘आलम प्रेमोन्मत्त कवि थे और अपनी तरंग के अनुसार रचना करते थे। इनकी रचनाओं में हृदयतत्व की प्रधानता है। इनकी कविताओं का संग्रह ‘आलमकेलि’ है। आलमकेलि में बहुत से कवित्त शेख के रचे हुए हैं। आलम के कवित्त-सवैयों में भी बहुत-सी रचना शेख की मानी जाती है।’’[100] ‘‘लाला भगवानदीन ने ‘आलमकेलि’ के नाम से शेख और आलम के 400 पद संकलित कर प्रकाशित किये हैं। वे कहते हैं, ‘‘शेख यदि आलम से बढ़कर नहीं हैं, तो कम भी नहीं। प्रेम की जिस धारा का प्रवाह ‘आलम’ में है वही ‘शेख’ में ऐसा भाव, भावना साम्य बहुत कम पाया जाता है। दोनों की रचनाएँ ऐसी मिलती-जुलती हैं कि उनका एक-दूसरे से पृथक करना कठिन हो जाता है। नायिकाभेद और कलापूर्ण काव्य की दृष्टि से शेख को पुरुष कवियों की श्रेणी में रखा जा सकता है। उसकी सबसे भारी विशेषता उसकी शुद्ध भाषा, सरल पद्धति और सुव्यवस्थित भाव-व्यंजना है। शेख के प्रथम और बाद में भी बहुत दिन तक शेख जैसी ब्रजभाषा किसी भी स्त्री कवियित्री ने नहीं कहीं।’’[101] बेशक शेख हिन्दू न हुई लेकिन उसके कविता संसार में हिन्दू देवी-देवता, हिन्दू मैथोलौजी के पात्र ही दिखाई पड़ते हैं। उनका कविता संस्कार कृष्ण भाव के आस-पास ही घूमता है। आलमकेलि में कृष्ण के बाल-लीला का एक पद शेख का लिखा हुआ मिलता है। बालक कृष्ण की चंचलता, यशोदा की मातृतत्समता सुंदर शब्दों में चित्रित है-

‘‘बीस विधि आऊँ दिन बारीये न पाऊँ और
याही काज वाही घर बांसनि की बारी है।
नेकु फिर अइहैं कइहैं दै री दै जसोदा मोहिं,
यों पै हठि मांगे बंसी और कहूँ डारी है।
सेख कहै तुम सिखवौ न कहु राम याहि,
भारी गरिहाइनु की सीखे लेत गारी है।

[100] आचार्य रामचंद्र शुक्ल, हिन्दी साहित्य का इतिहास (विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी 2013), पृ.सं. 212
[101] सुमन राजे, हिन्दी साहित्य का आधा इतिहास (भारतीय ज्ञानपीठ, दिल्ली, 2015), पृ.सं. 157

संग लाइ मइया नेकु न्यारी न कन्हैया कीजे,

बलन बलैया लेके मैया बलिहारी है।[102]

आलम केलि में भ्रमरगीत प्रसंग के चार कवित्त शेख के नाम से रचित हैं। इनमें गोपियों की व्याकुलता, गोपियों द्वारा उद्धव को उपालंभ, संयोग के दिनों की स्मृति के साथ-साथ उद्धव के योग-संदेश पर गोपियों का प्रतिउत्तर भी है-

''चाहती सिंगार जिन्हें सिंगी सो सगाई कहा
औधि की है आस तो आघारी कैसे गहिये?
विरह अगाध तहाँ सुन्न की समाधि कौन
जोग काहि आते जो वियोग दाह दहिये।
सेख कहे मौन मुद्रा महिन जू लाये बन,
मुद्रा लाओ कानन सुनेई सूल सहिये।[103]

सूरदास के समान ही शेख की गोपियां भी साधारण नारी हैं। जिन्होंने कृष्ण को अपना सर्वस्व मान लिया था। गोपियां उद्धव से आग्रह करती हैं कि कृष्ण उनके प्रेम के लिए ना सही, उन लोगों पर पड़ी आपदा मिटाने के लिए ही आ जाएं।

जुग है कि जाम ताको मरमु न जाने कोई,
विरही को घटी और प्रेमी को जु पुल है।
सेख प्यारे कहियो संदेशा ऊधो हरि आगे,
ब्रज बारिवे को घटी धटी घृत जल हैं।
हांसी नहीं नैसुक उकासी नहीं जोग तनु,
तिरह वियोग आर ओर दावानलु है।

[102] डॉ. सावित्री सिन्हा, मध्यकालीन हिन्दी कवयित्रियाँ (आत्माराम एण्ड सन्स, दिल्ली, 1953), पृ.सं. 253

[103] डॉ. सावित्री सिन्हा, मध्यकालीन हिन्दी कवयित्रियाँ (आत्माराम एण्ड सन्स, दिल्ली, 1953), पृ.सं. 262

सिर सौं न खेले पग लेते न परै लौं जाय,

गिरि हू ते भारो इहां विरह सबल है।[104]

उद्धव गोपियों के पास योग-संदेश लेकर आए थे लेकिन जब मथुरा, कृष्ण के पास लौटे तो गोपियों के असीम प्रेम से अभिभूत होकर लौटे। उद्धव मथुरा लौटकर गोपियों की दयनीय अवस्था का चित्रण करते हैं। इस चित्रण में शेख ने गोपियों के माध्यम से नारी जीवन की विवशता को सामने रखा है-

माती मद कोकिल उदासी मधुमास बोले,

स्वांती रस तपति अबोली रहे चातकी।

सेख कहै भौंरों कंवलनि गुंजारे पुंज

छाती तरकनि सुनि युवती की जाति की।

रास रस आद्वै सुधि सरद सतावै ना तो,

विरह बसंत व्रज घरी घरी घात की

चितवन चैन की वै चांदनी अचेत भई,

जीति है जुन्हाई जिन कातिक की रात की।[105]

जिन गोपिकाओं ने कातिक की जुन्हाई में तुम्हें जीत लिया था वे चैत की चांदनी द्वारा उत्पन्न शूल को सहन करने में असमर्थ हैं। मदमाती कोयल के स्वर में उदासीनता है। गोपियों के ताप के सामने चातकी अपने तपन को भूलकर मौन हो गई है। भारतीय काव्य परंपरा में स्त्रियों के वैराग्य-दग्ध मन की स्थितियों को व्यक्त करने के लिए प्रकृति का ही सहारा लिया जाता है। शेख ने भी कृष्ण के मथुरा गमन के चित्र को कुछ इसी तरह खींचा है-

जबतें गोपाल मधुवन को सिधारे भाई,

मधुवन भयो मधु दानव विष सौं।

---

[104] डॉ. सावित्री सिन्हा, मध्यकालीन हिन्दी कवयित्रियाँ (आत्माराम एण्ड सन्स, दिल्ली, 1953), पृ.सं. 262

[105] डॉ. सावित्री सिन्हा, मध्यकालीन हिन्दी कवयित्रियाँ (आत्माराम एण्ड सन्स, दिल्ली, 1953), पृ.सं. 263

सेख कहे सारिका शिखंडी मंडरीक सुक,
मिलि के कलेस कीनही कालिन्दी कदम सौं।
देह करे करठा करेजो लीन्हों चाहत हैं,
काग भई कोयल कगायो करे हम सों।।[106]

शेख के यहां जहां भ्रमरगीत प्रसंग हैं तो वहीं रीतिकालीन शृंगारिक भावनाएं भी हैं। शेख के यहां भी अन्य रीतिकवियों की तरह नारी की सार्थकता पुरुष कामनाओं की तुष्टि में है। इसी कारण प्रथम समागम के भय से डरी हुई बालिका की तरफ से दूती नायक को आश्वासन देते हुए कहती है-

कीनी चाहौ चाहिली नवोढ़ा एकै बार तुम,
एक बार जाय तिहि छल उरू दीजिए।
सेख कहौ आवन सुहैली सेज आवे लाल,
सीखत सिखैनी मेरी सीख सुन लीजिये।[107]

शेख के काव्य में दूती को विशिष्ट स्थान प्राप्त है। दूती नायिका के संकोच, मान, प्रेम और व्याकुलता को नायक के समक्ष रखती है।

रस में विरस जानि कैसे बसि कीजे आनि,
हा हा करि मोसो अब वोलिहौ तो लरौंगी।
जोटिन के आधे नाऊँ आधी रैन दौरि जाऊँ,
राधा जू को संग वै न पीर लाये प्यारे तुम,
अबहीं हों विरह नखाने पीर हरौंगी।
आज हू न ऐहै काम कालि चलि जैहे सेह,
परौं लग्गि हौं ही वाके पायँ जा परौंगी।।[108]

---

[106] डॉ. सावित्री सिन्हा, मध्यकालीन हिन्दी कवयित्रियाँ (आत्माराम एण्ड सन्स, दिल्ली, 1953), पृ.सं. 263

[107] डॉ. सावित्री सिन्हा, मध्यकालीन हिन्दी कवयित्रियाँ (आत्माराम एण्ड सन्स, दिल्ली, 1953), पृ.सं. 255

[108] डॉ. सावित्री सिन्हा, मध्यकालीन हिन्दी कवयित्रियाँ (आत्माराम एण्ड सन्स, दिल्ली, 1953), पृ.सं. 258

शेख ने अधिकांश पद दूतियों के माध्यम से कहलवाये हैं। जाहिर है नायक-नायिका का संकोच दूती में नहीं होता। दूती के माध्यम से स्त्री की आदिम आकांक्षा का उन्मुक्त वर्णन शेख ने किया है। कुछ पदों में नायिका स्वयं भी अपने मन का उद्गार अपनी सखी से व्यक्त करती है-

नेह सो निहाये नाहु नेकु आगे कीन्हें बाहु,
छांइयो छुवनि नार नाहियो करति है।
प्रीतम के पानि पेलि आपनी भुजै सकेलि,
पटकि सकुच हियौ गाढ़ौ के हारति है।।
सेख कहै आधे बैन, बीलि कटि नीचे नैन,
हा हा करि मोहन के मनहि हरति है।
केलि के आरंभ खिन खेल के बढ़ायेबे को,
प्रौढ़ा जो प्रवीन-सी नवोढ़ा है ठराति है।।[109]

शेख ने मानिनी नायिका के वर्णन में महारत हासिल की है-

शेख कहै प्यारी तू जौ जबहीं ते बन गई,
तब तब ही तैं कान्ह अंसुवन सर करे हैं।
याते जानियत है जू वेऊ नदी नारे नीर,
कान्ह वर विकल वियोग रोय भरे हैं।।[110]

शेख ने मानिनी नायिका के वर्णन के साथ ही नायिका की उस व्यथा कथा का भी अत्यंत स्पष्ट वर्णन किया है जो नायक के परस्त्री गमन से उत्पन्न होता है। सामंती समाज में परस्त्री गमन अत्यंत सामान्य बात थी, जिसका चित्रण कई रीतिकालीन कवियों ने किया है। शेख ने भी नायक के परस्त्री गमन से नायिका के हृदय में उठने वाले दर्द का चित्रण किया है-

[109] डॉ. सावित्री सिन्हा, मध्यकालीन हिन्दी कवयित्रियाँ (आत्माराम एण्ड सन्स, दिल्ली, 1953), पृ.सं. 260

[110] डॉ. सावित्री सिन्हा, मध्यकालीन हिन्दी कवयित्रियाँ (आत्माराम एण्ड सन्स, दिल्ली, 1953), पृ.सं. 257

बोली ताहि सो सौहै जोरे कौन भौंहे ऐसे
पायं परौ वाके जाके पांयन पर वरि हौ।
प्यारी कहौ ताही सौं जु रावरे सो पयारे कहे
आजकल रावरे परोसिन के प्यारे हो॥[111]

शेख के यहां परस्त्री गमन से न सिर्फ नायिका का दर्द ही चित्रित हुआ है वरन् कई बार आगे जाकर इस प्रसंग पर नायिका के व्यंग्य को भी अत्यंत रोचकता से शेख ने प्रस्तुत किया है-

ढीली ढली डगै भरौ ढीली पाग ठरि रही,
ढरे से परत ऐसे कौन पर ढहे ही?
लाल लाल लोचन उनींदी लागि लागि जात,
सांची कहौ सेख प्यारे मैं तो लाल कहै हो।
रस बरसात सरसात अरसात गात,
आये प्रात कहौ बात रात कहां रह हो?[112]

शेख के यहां विरह-वर्णन में फारसी के ऊहात्मक शैली का स्पष्ट प्रभाव दिखता है। एक ओर तो भारतीय पद्धति के आधार पर लिखा हुआ नायिका भेद, संकेत-स्थल, दूती प्रसंग इत्यादि है जिसमें रीतिकालीन रसात्मक दृष्टिकोण की स्पष्ट छाप है तो वहीं दूसरी ओर लैला-मजनूँ की कहानी का हल्का-सा पुट भी कुछ पदों में व्यक्त है।

थोरि बार है जु कहु थोरे सो मैं ताकि भाई,
आरी सी बिलाइ कहीं खिन ही में खोइगी।
धीरज अधार ते रहयो है खंग धार जैसी,
आंसुन की धार सी न धूरि है जु धोइगो॥

[111] डॉ. सावित्री सिन्हा, मध्यकालीन हिन्दी कवयित्रियाँ (आत्माराम एण्ड सन्स, दिल्ली, 1953), पृ.सं. 261

[112] डॉ. सावित्री सिन्हा, मध्यकालीन हिन्दी कवयित्रियाँ (आत्माराम एण्ड सन्स, दिल्ली, 1953), पृ.सं. 261

अहि सुनि आई ओ न चाहि ताहि पाई फेरि,

देखि सेख मजनूँ बिना ही नींद सोइगो।

नीकै के निहारि वाके वसननि झारि डारि,

तार तार ताकि कहूँ बार सी जु होइगो।।[113]

कहीं-कहीं काम पिपासा की तीव्रता विरह वर्णन को अतिरंजित कर देती है। विरह के सूक्ष्म मनोभावों के चित्रण के अभाव में कई बार शेख का विरह वर्णन यथार्थ से परे लगने लगता है-

परम मानिनी तेरी लाल मैं विकल देखी,

बपु न संभरे कहु उठि न सकति है,

कीन्हीं कहा मोसों कहौ स्याम हौं बलाह लेऊँ,

जात धकधकी उर अनल धुकति है।

डारे सीरो नीर होत धीम ज्यों प्रबल ज्वाल,

महर महर सिर पाई भभकति है।

एक ही अधार वाकै हिये है रहत प्रान,

वा टक लगाये मगु कान्ह को तकति है।।[114]

शेख ने अपनी अनुभूतियों को व्यक्त करने के लिए अनेक उपकरणों का प्रयोग किया है। उनींदे और मदमाते नयनों के रूप चित्रण में उनकी अनूठी कल्पना और वाग्विदग्धता का परिचय मिलता है। इस पद में अभिव्यंजना की सजीवता का कलात्मक चित्रांकन दिखता है-

रात के उनींदे अलसाते मदमाते राते

अति कजरारे दृग तेरे यों सोहात हैं।

तीखी तीखी कोरनि करोरे लेत कढ़ि जिउ,

केते भये घायल और केते तलकात हैं।।

---

[113] डॉ. सावित्री सिन्हा, मध्यकालीन हिन्दी कवयित्रियाँ (आत्माराम एण्ड सन्स, दिल्ली, 1953), पृ.सं. 266

[114] डॉ. सावित्री सिन्हा, मध्यकालीन हिन्दी कवयित्रियाँ (आत्माराम एण्ड सन्स, दिल्ली, 1953), पृ.सं. 259

ज्यों ज्यों लै सलिल चरण रेख धोटे बार बार,
त्यों त्यों बल बुंदन के बार झुकि जात हैं।
केबर के भाले कैंधों नाहट नहन वाले,
लोहू के पियासे कहूँ पानी ते अघात हैं।।[115]

शेख के काव्य-संसार में रीतिकालीन नायिकाओं की कमी नहीं है। इन नायिकाओं के बीच शेख के काव्य-संसार में स्त्री संवेदना की झलक भी मिल जाती है। राम के वनवास के बाद, कौशल्या की अनुभूति की सबल और काव्यात्मक अभिव्यक्ति शेख के यहां मिलती है-

पसनु में बैठनि परोसी भये पच्छिनि के
झारन के डार बरबार करि रहिहैं।
सेख भूमि डासिहैं कि बिस बेलि बसि हैं कि
कुस हैं कि कांस है कौसल्या काहि कहिहैं?
वन गिरि वैरनि थोरे दु:ख कैसे करि,
कोंवरे कुमार सुकुमार मेरे सहिहैं।
मैले तन घर ए कसैले छाल रूखनि के,
वन फल कोटि छोलि छील खाय रहिहैं।[116]

राम वन-गमन के प्रसंग में ही दशरथ की करुण स्थिति का प्रसंग भी आता है। राम के वियोग में दशरथ की स्थिति का चित्रण शेख ने इन शब्दों में किया-

जाकि उठयो पौन मौन थाक्यो मौन पंखी भये,
मानस की कौन कहे विथा जो अकथ की।
सेख प्यारे राम के वियोग तात प्रात ही ते,
रहौ मौन सुख सुधा गई ज्ञान गथ की।

[115] डॉ. सावित्री सिन्हा, मध्यकालीन हिन्दी कवयित्रियाँ (आत्माराम एण्ड सन्स, दिल्ली, 1953), पृ.सं. 267

[116] डॉ. सावित्री सिन्हा, मध्यकालीन हिन्दी कवयित्रियाँ (आत्माराम एण्ड सन्स, दिल्ली, 1953), पृ.सं. 266

टेकई न प्रान पल केकई पुकारे ठाढ़ी,
राजा राजा करत भुलानी पंथ की।
दरसत दुसह उदासी देस तजि गये,
देखि जिन दसई दसा जो दसरथ की।[117]

सीता की वियोगावस्था की ओर भी शेख का ध्यान गया है। अशोक वाटिका में शत्रुओं से घिरी सीता के वियोग वर्णन में शेख का ध्यान उनके मानसिक व्याघातों के बजाय शारीरिक व्यग्रता पर ही गया है। शारीरिक व्यग्रता पर ही ध्यान जाना रीतिकाल का प्रभाव मालूम पड़ता है।

ऊक मई देह बरि चूक है न खेह भई,
हूक बढ़ी पै न पिसि टूक भई छतिया।
सेख कहि सांस रहिबे की सकुचानि कवि,
कहा कहौं ताजनि कहौगे निलज तिया।
और न कलेस मेरा नाथ रघुनाथ आगे
भेसु यहै भाखियौ संदेहे यहै पतिया।[118]

शेख ने गंगा-स्तुति, देवी-स्तुति, शिव-स्तुति आदि के कई पद लिखे हैं। शेख को हिन्दू धर्म का ज्ञान था तथा उनकी उसमें आस्था भी थी। उन्हें विश्वास है कि गंगा में एक गोता लगाने से शिव प्रसन्न हो जाएंगे-

अंग बोरि गंग में निहंग है के बेग चलु
आगे आउ मैल धोइ बैल गैल लाइ लै।[119]

शेख की भाषा परिष्कृत ब्रज भाषा है। उनकी ब्रजभाषा में संस्कृत, फारसी तथा देशज शब्दों का भी समावेश है। भाषा को सुंदर बनाने के लिए शेख ने अलंकारों का प्रयोग भी खूब किया है। यमक तथा

---

[117] डॉ. सावित्री सिन्हा, मध्यकालीन हिन्दी कवयित्रियाँ (आत्माराम एण्ड सन्स, दिल्ली, 1953), पृ.सं. 271

[118] डॉ. सावित्री सिन्हा, मध्यकालीन हिन्दी कवयित्रियाँ (आत्माराम एण्ड सन्स, दिल्ली, 1953), पृ.सं. 272

[119] डॉ. सावित्री सिन्हा, मध्यकालीन हिन्दी कवयित्रियाँ (आत्माराम एण्ड सन्स, दिल्ली, 1953), पृ.सं. 265

अनुप्रास उनके प्रिय अलंकार हैं। रीतिकालीन काव्य में ही नहीं संपूर्ण हिंदी काव्य में शेख की कविता विशिष्ट स्थान रखती है। साहित्य में शेख की उपेक्षा अक्सर खलती है।

सुंदर कली

नागरी प्रचारिणी सभा की खोज रिपोर्ट तथा हिंदी के मुसलमान कवि में सुंदर कली की रचनाओं का उल्लेख मिलता है। अनुमानत: इनका रचनाकाल संवत् 1900 से पूर्व रहा होगा। सुंदरकली द्वारा रचित ग्रंथ 'सुंदर कली की कहानी अथवा सुंदर कली का बारहमासा' है जिसकी अधूरी प्रति प्राप्त हुई है।

हिंदी साहित्य में बारहमासा वर्णन का विशिष्ट स्थान है। हिंदी साहित्य में यह परंपरा सर्वप्रथम 'बीसलदेव रासो' में देखने को मिलती है। जायसी के यहां बारहमासा वर्णन संपूर्ण कलात्मक उत्कृष्टता के साथ दिखाई पड़ता है। रीतिकालीन कवियों ने भी वियोगिनी के हृदय की अवस्थाओं का चित्रण करने के लिए बारहमासा वर्णन को हाथों-हाथ लिया। रीतिकाल की शृंगारिकता में उल्लास तथा वेदना के उद्दीपक के रूप में प्रकृति का चित्रण बारहमासा तथा षट्ऋतुवर्णन के द्वारा हुआ है। कालांतर में बारहमासा एवं षट्ऋतुवर्णन में काव्य सौष्ठव की कमी देखने को मिलती है। अब इस तरह के वर्णन में भावों के सौंदर्य को बचाए रखना बिरले कवियों में ही देखा जा सकता है। सुंदरकली का बारहमासा वर्णन अधूरा है। डॉ. सावित्री सिन्हा ने तीखे स्वर में इनकी आलोचना करते हुए लिखा है कि- ''इस रचना में न तो भावों का सौंदर्य है और न अभिव्यंजना का, परंतु इस असौंदर्य का उल्लेख आवश्यक है। प्रत्येक ऋतु में स्थूल क्रियाओं की आकांक्षा, टेढ़े-मेढ़े बेसुरे स्वरों में व्यक्त है। इनके काव्य में प्राप्त उद्धरणों को देखकर उनके विकृत रूप तथा भावों का अनुमान हो सकता है।''[120] डॉ. सिन्हा ने इनकी तीखी आलोचना तो की लेकिन उन्होंने उस ओर नजर ही नहीं डाला जहां पर यह परंपरा ही क्षीण हो रही थी। समय के दवाब में षट्ऋतु वर्णन एवं बारहमासा की परंपरा खत्म हो रही थी। जाहिर है विकृति तो दिखेगी ही। बहरहाल सुंदर कली के यहां ग्रीष्म ऋतु में विरहिणी की अंतर्दशा का एक उदाहरण देखें-

जो ऐसी रात है पी को मिलावे। गले से गल लगा के संग सोलावे

[120] डॉ. सावित्री सिन्हा, मध्यकालीन हिन्दी कवयित्रियाँ (आत्माराम एण्ड सन्स, दिल्ली, 1953), पृ.सं. 275

आह आ आषाढ़ नीपट गरमी कहे रे। पसीना तन से तो धारी चले रहे

मेरे मन में बीरह की आग लगी। आगिन के बीच में जलती अभागी

आगिन ने सब तरह से तन को जारा। हमारा तन हुआ सारा अंगारा

न ऐसा है कोई आगिन की बुताबै। बुझाय वहीं जो पिय की खबर लावै।[121]

इनका शोक-संदेश भी यांत्रिक लगता है। ऐसा लगता है कि इन्होंने बस लिखने के लिखा है। चाहे वो 'फागुन मास' में होली का चित्रण हो या फिर संदेश भेजती विरहणी का दुख हो-

पिया के पास तु जा कहियो कागा

पकर के हाथ कोई संग ले जागा।

अगर दरबार से आयो तू प्रीतम

जवानी की मारी बातें सुनो तुम।

पीया तुम अब न जाओगे अभागे

हम तुम छोड़ के परदेस भागे।[122]

एक दोहा देखिए -

सजन गये परदेश की सो बीते दिन बहुत

पीतम कारन ऐ सखी तन से निकला जीव।[123]

उत्तरमध्यकाल की सामंती व्यवस्था में स्त्री होकर कुछ भी लिखना और उस प्रति का उपलब्ध होना ज्यादा महत्वपूर्ण है। अत: सुंदरकली का प्रयास सराहनीय है।

सांई

रीतिकालीन शृंगारिक कवियों ने नीति विषयक दोहे भी लिखे। इन्हीं नीति विषयक दोहों में सांई और गिरधर कविराय की जोड़ी भी एक अद्भुत सामंजस्य पूर्ण जोड़ी है। महिला मृदुबानी और स्त्री कवि

[121] डॉ. सावित्री सिन्हा, मध्यकालीन हिन्दी कवयित्रियाँ (आत्माराम एण्ड सन्स, दिल्ली, 1953), पृ.सं. 275

[122] डॉ. सावित्री सिन्हा, मध्यकालीन हिन्दी कवयित्रियाँ (आत्माराम एण्ड सन्स, दिल्ली, 1953), पृ.सं. 275

[123] डॉ. सावित्री सिन्हा, मध्यकालीन हिन्दी कवयित्रियाँ (आत्माराम एण्ड सन्स, दिल्ली, 1953), पृ.सं. 276

कौमुदी के लेखकों ने इन्हें पति-पत्नी ही स्वीकार किया है। कहा जाता है कि गिरधर कविराय ने किसी निश्चित संख्या में कुंडलियों की रचना का संकल्प लिया था, परंतु इनकी आकस्मिक मृत्यु से यह पूरा नहीं हो सका। सांई ने पति के संकल्प को पूरा किया। इसी कारण इन कुण्डलियों में शुरूआती चरण में सांई का नाम है और आखिरी बंद में गिरधर कविराय का नाम दिया गया है। चूंकि संकल्प गिरधर कविराय का था इसलिए उनका नाम जरूरी था।

सांई ने नीति विषयक सिद्धांतों के प्रतिपादन के लिए दो शैली ग्रहण की- (i) वर्णनात्मक (ii) अन्योक्ति। वर्णनात्मक कुण्डलियों में मुख्य विषय का उल्लेख प्रथम पंक्ति में कर, उसके बाद की पंक्तियों में उदाहरणों द्वारा विषय को पुष्ट किया जाता है। यथा-

सांई बेटा बाप के बिगरे भयो अकाज।
हरिनाकस्यप कंस को गयउ दुहुन को राज।।
गयउ दुहुन को राज बाप बेटा में बिगरी।
दुश्मन दावागीर हंसे महिमण्डल नगरी।।
कह गिरधर कविराय युगन याही बलि आई।
पिता पुत्र के बैर नफ़ा कहु कौन पाई।[124]

सांई ने अपनी कुण्डलियों के माध्यम से उत्तरमध्यकालीन राजनैतिक चरित्र को भी उकेरने का प्रयास किया है। जिसमें बाप बेटे का दुश्मन है तो वहीं बेटा बाप को मरवा देता है। वर्णनात्मक कुण्डलियों की सरलता तथा स्पष्टता के साथ उनकी अन्योक्ति की विदग्धता तथा व्यंग्य भी दर्शनीय है।

सांई तहाँ न जाइए जहां न आपु सहाय।
वरन विषै जाने नहीं। गदहा दाखै खाय।।
गदहा दाखै खाय गऊ पर दृष्टि लगावै।
सभी बैठि मुसक्याय यही सब नृप को भावै।।

[124] सं. जगदीश्वर चतुर्वेदी, सुधा सिंह, स्त्री-काव्यधारा (अनामिका पब्लिशर्स, दिल्ली, 2006), पृ.सं. 126

कह गिरधर कविराय सुनो रे मेरे भाई।

जहां न करिये बास तुरत उठि अइये सांई।।[125]

सांई के इन कुण्डलियों में उत्तरमध्यकालीन दरबार एवं पतनशील दरबारी संस्कृति की ओर भी इशारा है तो वहीं उत्तरमध्यकालीन राजनीति की विडम्बना एवं विसंगति की ओर भी इशारा है-

सांई घोड़े अछत ही गदहन पायो राज।

कौआ लीजै हाथ में दूर कीजिए बाज।।

दूर कीजिए बाज राज पुनि ऐसी आयो।

सिंह कीजिए कैद स्यार गजराज चढ़ायो।।

कह गिरधर कविराय जहां यह चूकि बड़ाई।

तहां न कीजिय भोर सांझ उठि चलिये सांई।।[126]

उत्तरमध्यकालीन राजनीति एवं समय और समाज को सांई ने अपने कुण्डलियों में बेबाकी से गाया है। शायद ही किसी पुरुष रचनाकार ने इस बेबाकी से अपनी बात रखी हो।

आत्मानुभूति परक लेखन

एक बंद समाज स्त्रियों को स्वतंत्र अभिव्यक्ति की छूट नहीं देता है। स्वतंत्र अभिव्यक्ति से आशय है बेबाकी से अपनी बात को सामने वाले से कहना या सामने वाले को सुनाना। मतलब बिना राम, कृष्ण आदि विशेष नायक का अवलम्ब लिए बेलाग अपनी बात कह देना। इस भारतीय समाज व्यवस्था में मीरा जैसी मुखर एवं क्रांतिकारी कवयित्री अपने आदिम राग को कृष्ण का अवलम्ब लिए बिना व्यक्त नहीं कर पाती थी। स्त्रियों को अपनी भावनाओं को व्यक्त करने के लिए कृष्ण एवं राम जैसे नायकों को ही चुनना होता था। बिना किसी खेमे में बँधे ये अपनी बात नहीं रख सकती थी। इन्हें समाज इतनी छूट

---

[125] सं. जगदीश्वर चतुर्वेदी, सुधा सिंह, स्त्री-काव्यधारा (अनामिका पब्लिशर्स, दिल्ली, 2006), पृ.सं. 127

[126] सं. जगदीश्वर चतुर्वेदी, सुधा सिंह, स्त्री-काव्यधारा (अनामिका पब्लिशर्स, दिल्ली, 2006), पृ.सं. 129

नहीं देता था। इसी कारण प्रेम में होने के बावजूद भी 'सुजान राय' दरबार की अवहेलना नहीं कर पाती और बाद में 'हिम्मत की कमी' की उलाहना देती है-

वेदहू चारि की बात को बांचि, पुरान अठारह अंग में धारै।
चित्रहू आप लिखे समझै कवितान की रीति मै वार ते पारै।
राग को आदि जिती चतुराई 'सुजान' कहै सब याही के लारै।
हीनता होय जो हिम्मत की तो प्रबीनता लै कहा कूप में डारै।[127]

साक्षात् रसमूर्ति घनानंद को अस्वीकार करने के बाद की पीड़ा सुजान राय के इस उलाहना भरे पद में साफ दिखाई देती है।

उत्तरमध्यकालीन काव्य में इस तरह का आत्मानुभूति परक लेखन बहुत कम हुआ है लेकिन जितना भी उपलब्ध है वो अपना अलग महत्व रखता है। जिस स्त्री रचनाकार ने इस तरह की रचना की है, उसका आलम्बन उसका पति है या प्रेमी। इन रचनाकारों में बाज बहादुर की प्रेयसी 'रूपमती' का नाम हम बड़े सम्मान के साथ ले सकते हैं। बाज बहादुर एवं रूपमती की प्रेमकथा उस काल में चर्चा का विषय थी। उस समय के प्रसिद्ध ग्रंथ 'आइने अकबरी' से लेकर कई छोटे-बड़े ग्रंथों में इस प्रेमकथा का जिक्र मिलता है। रूपमती उज्जैन के निकट सारंगपुर गांव की वेश्या की पुत्री थी। मालवा के नवाब बाज बहादुर से इसके प्रणय संबंध थे। युद्ध में बाज बहादुर की मृत्यु के बाद पतिव्रत धर्म का निर्वाह करते हुए रूपमती आत्महत्या कर लेती है। इनके कुछ पद इस प्रकार हैं-

रूपवती दुखिया भई, बिना बहादुर बाज।
सी अब जियरा तजत है, यहाँ नहीं कहु काज।।[128]

x x x x x x x

[127]सुमन राजे, हिन्दी साहित्य का आधा इतिहास (भारतीय ज्ञानपीठ, दिल्ली, 2015), पृ.सं.

[128] डॉ. सावित्री सिन्हा, मध्यकालीन हिन्दी कवयित्रियाँ (आत्माराम एण्ड सन्स, दिल्ली, 1953), पृ.सं. 248

बिना पिया पापी जिया, चाहत है सुख साज।

रूपवती दुखिया भई, बिना बहादुर बाज।।[129]

धार राज्य के मीर मुंशी अब्दुर्रहमान जी के द्वारा प्राप्त एक पद का उल्लेख भी मुंशी देवी प्रसाद जी ने किया है, जो इस प्रकार है-

और धन जोड़ता है री मेरे तो धन प्यारे की प्रीत पूंजी।

कहू त्रिया की न लागे दृष्टि, अपने कर राखूंगी कुंजी।।

दिन-दिन बढ़े सवायो डेवढ़ो, घटे न एको गूंजी।

बाज बहादुर के स्नेह ऊपर निछावर करूंगी धन और जी।।[130]

रूपमती की तीक्ष्ण बुद्धि, काव्य-प्रतिभा तथा संगीत प्रेम के विषय में अनेक कहानियाँ प्रचलित हैं। बहुत संभव है रूपमती बेगम ने आत्मानुभूति परक और भी लेखन किया हो जो अनुपलब्ध है।

इस प्रकार के लेखन में गोस्वामी तुलसीदास की पत्नी 'रत्नावली' का नाम भी लिया जाता है। ''तुलसी को तुलसी बनाने वाली रत्नावली ही हैं, यह तथ्य स्मृत इतिहास तो है ही धार्मिक चरित मालाओं में भी सुरक्षित है। परंतु यह कवयित्री भी हैं, यह तथ्य अल्पज्ञात ही है।''[131] डॉ. सावित्री सिन्हा ने रत्नावली संबंधी सामग्री का विवेचन कर यह निष्कर्ष निकाला है कि रत्नावली के अस्तित्व को स्वीकार करना न्यायोचित ही जान पड़ता है। अभी तक रत्नावली के 201 दोहे प्राप्त हुए हैं। इनमें से 88 दोहों में रत्नावली अथवा रत्नावती का पूर्ण संकेत है, 82 दोहों में केवल रतन का प्रयोग है तथा 31 दोहों में उनका नाम नहीं है। उनके दोहे उनकी जीवनी के निर्माण के अंत:साक्ष्य के रूप में विद्यमान हैं। जीवन के प्रत्येक अंश का वर्णन करते हुए वह अपनी वर्तमान की दु:ख की रेखा को नहीं बचा पाती है। परित्यक्ता रत्नावली वियोग की इन रेखाओं में व्यथित नारी-हृदय की भावनाओं को सुंदर अभिव्यक्ति देती है।

---

[129] डॉ. सावित्री सिन्हा, मध्यकालीन हिन्दी कवयित्रियाँ (आत्माराम एण्ड सन्स, दिल्ली, 1953), पृ.सं. 250

[130] डॉ. सावित्री सिन्हा, मध्यकालीन हिन्दी कवयित्रियाँ (आत्माराम एण्ड सन्स, दिल्ली, 1953), पृ.सं. 250

[131] सुमन राजे, हिन्दी साहित्य का आधा इतिहास (भारतीय ज्ञानपीठ, दिल्ली, 2015), पृ.सं. 160

जनमि बदरिका कुल भई, हौं पिय कंटक रूप।

बिंधत दुखित है चल गये, रत्नावलि उर भूप।।[132]

प्रिय की अनुपस्थिति में केवल एक सहारा है जीने का प्रिय की चरणपादुका-

असन बसन भूषन भवन, पिय बिन कहु न सुहाय।

भार रूप जीवन भयो, छिन छिन जिय अकुलाय।

पति पद सेवा सों रहत, रतन पादुका सेइ।

गिरत नाव सों रज्जु तेहि, सरित पार करि देइ।।[133]

प्रिय के स्मृति-चिन्हों के सहारे दिन व्यतीत करती हुई परित्यक्ता रत्ना प्रिय के आगमन के विविध स्वप्न देखती हुई जीवित रहती है।

''नाथ! रहौगी मौन हो धारहु पिय जिय तोस।

कबहूं न दऊँ उराहनो, दऊँ न कबहूँ दोष।।[134]

अपने जीवन में जो रत्नावली ने निष्कर्ष निकाला वह यह है कि पत्नी का एकमात्र धर्म-चरणों की सेवा है। अन्य पुरुष, चाहे वह किसी भी रिश्ते का हो, उसके लिए त्याज्य है!

जुवक जनक, जामात, सुत, दिवर और भ्रात।

इन्हूँ की एकान्त बहु, कामिनि सुन जनि बात।।

घी को घर है कामिनी, पुरुष तपत अंगार।

रतनावलि घी अगनि को, उचित न संग विचार।।[135]

स्त्री विषयक प्रसंगों के अतिरिक्त साधारण नीति पर भी इन्होंने दोहे लिखे हैं जो हिन्दी के अनेक रीति काव्यकारों के समक्ष रखे जाने की क्षमता रखते हैं।

---

[132] सं. जगदीश्वर चतुर्वेदी, सुधा सिंह, स्त्री-काव्यधारा (अनामिका पब्लिशर्स, दिल्ली, 2006), पृ.सं. 97

[133] सं. जगदीश्वर चतुर्वेदी, सुधा सिंह, स्त्री-काव्यधारा (अनामिका पब्लिशर्स, दिल्ली, 2006), पृ.सं. 97

[134] सं. जगदीश्वर चतुर्वेदी, सुधा सिंह, स्त्री-काव्यधारा (अनामिका पब्लिशर्स, दिल्ली, 2006), पृ.सं. 97

[135] सं. जगदीश्वर चतुर्वेदी, सुधा सिंह, स्त्री-काव्यधारा (अनामिका पब्लिशर्स, दिल्ली, 2006), पृ.सं. 98

रतनावलि काँटो लगो, वैदुन दियो निकारि।

वचन लग्यो निकस्यो न कहूँ, उन डारी हिय कारि।।[136]

इंद्रियों के अनियंत्रित अश्व को यदि मन रूपी सारथी वश में नहीं कर पाता है तो तन रूपी रथ का विनाश अवश्यंभावी है-

पांच तुरंग तन रथ जुरे, चपल कुपथ लै जात।

रतनावलि मन सारिथिहिं, रोकि सके उत्पात।[137]

x x x x x x

मैन नैन रसना रतन करन नासिका सांच।

एकहि मारत अवस है, स्ववस जिआवत पांच।।[138]

इन दार्शनिक सिद्धांतों के अतिरिक्त वे परोपकार, विश्व बंधुत्व इत्यादि विशाल भावनाओं का प्रतिपादन भी करती हैं। 'वसुधैव कुटुम्बकम' की पुनीत भाव को रत्नावली के दोहे में देखा जा सकता है-

ये निज, ये पर, भेद इमि, लघु जन करत विचार।

चरित उदारन की रतन, सकल जगत परिवार।।[139]

इस प्रकार हम पाते हैं कि रतनावली जहाँ एक ओर आत्मानुभूति परक लेखन करते हुए नारी-हृदय की गहराई में उतरती हैं वहीं उन्होंने नीति काव्य के माध्यम से समाज को अनुप्राणित किया है।

बुंदेल वैभव में प्राप्त केशव पुत्रवधू का ब्रजभाषा में रचित एक सवैया में 'गति पीतम की तुमहूं कहं दैहें' का साहस दिखता है तो वहीं कविराज लोकनाथ चौबे की पत्नी कविरानी चौबे का साहस भी देखने को मिलता है जब किसी कार्यवश आश्रयदाता राजा लोकनाथ चौबे को अटक भेजने का उपक्रम करते हैं तब कवयित्री कहती हैं-

---

[136] सं. जगदीश्वर चतुर्वेदी, सुधा सिंह, स्त्री-काव्यधारा (अनामिका पब्लिशर्स, दिल्ली, 2006), पृ.सं. 98

[137] सं. जगदीश्वर चतुर्वेदी, सुधा सिंह, स्त्री-काव्यधारा (अनामिका पब्लिशर्स, दिल्ली, 2006), पृ.सं. 98

[138] सं. जगदीश्वर चतुर्वेदी, सुधा सिंह, स्त्री-काव्यधारा (अनामिका पब्लिशर्स, दिल्ली, 2006), पृ.सं. 98

[139] सं. जगदीश्वर चतुर्वेदी, सुधा सिंह, स्त्री-काव्यधारा (अनामिका पब्लिशर्स, दिल्ली, 2006), पृ.सं. 99

मैं तो यह जानी हो कि लोकनाथ पति पाय

संग ही रहोंगी अरधेग जैसे गिरिजा।[140]

सहवास की सुनहली आशा में कविरानी चौबे आश्रयदाता राजा बुद्धि सिंह से विनती भी करती है-

विनती करहुगे जो वीर राव राजाजी सों,

सुनत तिहारी बात ध्यान में धरहिंगे।[141]

हम देखते हैं कि स्त्री रचनाकारों में वैविध्यता तो है लेकिन आत्मानुभूति परक लेखन की नितांत कमी दिखती है। खुले तौर पर पति या प्रेमी से संवाद करने की छूट नहीं है। संवदिया के रूप में लोक के किसी नायक को चुनना ही होता है। बेशक इन कवयित्रियों ने आत्मानुभूति परक लेखन किया है, लेकिन ध्यान देने वाली बात यह है कि इस तरह के लेखन के केन्द्र में पति है, पतिव्रत धर्म है। स्त्री की जैविक और आदिम अनुभूतियों के लिए कोई जगह नहीं है। इससे यह साबित होता है कि स्त्रियाँ कृष्ण, राम की छवि के आलम्बन के बगैर गीत तो रच सकती हैं लेकिन पितृसत्तात्मक समाज के दायरे में रहकर ही अपनी बात रखने की छूट है।

डिंगल काव्य तथा अन्य फुटकल रचनाएँ

अभिजात्य वर्गीय साहित्य का एक हिस्सा शौर्य गाथा एवं गर्वोक्ति वर्णन का रहा है। चारणों एवं भारों द्वारा विकसित डिंगल भाषा में कवियों ने आश्रयदाता राजाओं का प्रशस्ति गान किया है और उनकी शौर्य गाथा गायी है। राजपूताना के शौर्य एवं रक्त की शुद्धता के इतिहास में राजपूत नारी की देन बहुत महत्वपूर्ण है। वह तलवार के भय से रक्षा की आर्त्त पुकार करने वाली नारी नहीं है बल्कि बुरा वक्त आने पर रक्त की शुद्धता के लिए जौहर की ज्वाला में खुद के अस्तित्व को मिटा देने वाली स्त्री है। अभिजात्य स्त्री में इस तरह के पौरुष एवं वीरत्व की उच्च्च भावना को भरने के लिए चारण स्त्रियाँ भी होती थीं। ये स्त्रियाँ जहाँ महल में रानियों का मनोविनोद करत वहीं समय आने पर शौर्य एवं वीरता का पाठ भी पढ़ाती

[140] सं. जगदीश्वर चतुर्वेदी, सुधा सिंह, स्त्री-काव्यधारा (अनामिका पब्लिशर्स, दिल्ली, 2006), पृ.सं. 27

[141] सं. जगदीश्वर चतुर्वेदी, सुधा सिंह, स्त्री-काव्यधारा (अनामिका पब्लिशर्स, दिल्ली, 2006), पृ.सं. 27

थीं। मुंशी देवी प्रसाद जी ने 'महिला मृदुवाणी' में झीमा चारणी, पद्मा चारणी और बिरजुबाई का जिक्र महल में रानियों के मनोविनोद करने वाली एवं शौर्य गाथा गाने वाली के रूप में किया है। इनका कार्य अंत:पुर की रानियों का मनोविनोद करना तथा वहाँ चलती हुई प्रतिस्पर्द्धा को लेकर पद और कविता बनाना था। झीमा चारिणी का एक पद द्रष्टव्य है-

घिन उमादे सांखली, तै पिय लियो भुलाय।
सात बरसरो बांछड़यो, तो किम रैन बिहाय।।
किरती माथे ढल गई, हिरणी लूबाँ खाय।
हार सटे पिय आगियों, हँसे न सामो धाय।।
अचल एरावया न चढ़े रोढ़ा रो असवार।
लाला लाल मेवाड़ियाँ, उमा तीज बल भार।।[142]

x x x x x x

लाला मेवाड़ी कई, बीघे करे न कोय।
गायी झीमा चारणी, उमा लियो मोलाय।।
पगे बजाऊँ घूँघरू, हाथ बजाऊँ तूँब।
उमा अचल मुलावियो, ज्यूँ सावन की लूँब।।
आसावरी अलापियो, घिन झीमा घण जाण।
घिण आजूणे दीहने, मनावणे महिराण।।[143]

जहाँ इनकी रचनाओं में दो रानियों की प्रतिद्वंद्विता एवं रूठे हुए राजा को मनाने का उपक्रम दिखता है तो वहीं संकट काल में सोते हुए सिंह अर्थात् राजा को छेड़ने का साहस भी इनकी रचनाओं में है।मुगलों के आक्रमण के सोते हुए राजा अमर सिंह को पद्मा चारिणी ने 'जाग जाग कल्याण जाया' का

[142] सं. जगदीश्वर चतुर्वेदी, सुधा सिंह, स्त्री-काव्यधारा (अनामिका पब्लिशर्स, दिल्ली, 2006), पृ.सं. 44

[143] सं. जगदीश्वर चतुर्वेदी, सुधा सिंह, स्त्री-काव्यधारा (अनामिका पब्लिशर्स, दिल्ली, 2006), पृ.सं. 44

राग छेड़कर जगाया था। पद्मा ने सतियों की वीरता के कई दोहे कहे हैं, जो अनुपलब्ध हैं। राठौरों के प्रशस्ति गीत संग्रह में एक गीत इस आशय का जरूर मिलता है-

गगणे गाज आवाज रणतूट पाखर गरर।
सालु लै सिंधु ओ राग साथै।।
दुरित धनराज रो बैर जल डोलतो।
झलकियो मूंगली फौज माथे।।
घी खे कमघ खगघार और धूलिये।[144]
सारदल सामुंही हंस पावासारी।
झीलियो नारियण लोहु जाझे।।
सती पुहपा अने अछर अग्र सिवा णं।
जाह नह नाम संसार धमी यो।।
हरि सहर को चले हंस अविहज हरी।
कवध नारायणी सरोग क्रमियो।।...[145]

मुंशी देवी प्रसाद ने अपनी खोज रिपोर्ट में बताया है कि चारण कविराज करनदीनी की बहन बिरजूबाई ने भी कुछ सीधी-सादी तुकबंदी की थी जो उस युग की नारी की आशातीत देन है। इन चारण कवयित्रियों के अतिरिक्त मुंशी देवी प्रसाद जी ने 'ठकुरानी काकरेची', 'चम्पादे रानी', 'रानी रारघर जी' और हरिजी रानी चावड़ी जी का भी जिक्र किया है। इन रानियों ने भी अपने प्रियतम अर्थात् राजा से हास-परिहास के दौरान, उत्तर-प्रत्युत्तर देने के क्रम में कुछ पदों की रचना की है। ये रचनाएं बिल्कुल ही साधारण किस्म की हैं लेकिन फिर भी ये रानियाँ लिख रही थीं, रचनाएँ कर रही थीं, ये ज्यादा महत्वपूर्ण है। हरि जी रानी चावड़ी जी की एक रचना देखी जा सकती है जिसमें रानी ने रूठे राजा को मनाया-

---

[144] सं. जगदीश्वर चतुर्वेदी, सुधा सिंह, स्त्री-काव्यधारा (अनामिका पब्लिशर्स, दिल्ली, 2006), पृ.सं. 56

[145] सं. जगदीश्वर चतुर्वेदी, सुधा सिंह, स्त्री-काव्यधारा (अनामिका पब्लिशर्स, दिल्ली, 2006), पृ.सं. 56

बेगानी पधारो म्हारा आलीजा जी हो।
छोटी-सी नाजक धीण रा पीव।।
ओ सावणियो उमंग रयोदे।
हरि जी ने ओकन दिखाती चीर।।
हण ओसर मिलयो कह होसी।
लाडी जी रो थां पर जीव।।
छोटी-सी नाजक घण रा पीव।[146]

इन डिंगल रचनाओं के अतिरिक्त भी कुछ स्फुट काव्य, स्त्री रचनाकारों द्वारा लिखे गए हैं। इनका विषय बिल्कुल अलग है। 'नैना योगिनी' नामक अद्भुत नामधारिणी लेखिका का उल्लेख नागरी प्रचारिणी सभा की खोज रिपोर्ट में मिलता है। इनके द्वारा रचित ग्रंथ का नाम है- 'सांवर तंत्र'। यह तांत्रिक योग-पद्धति पर आधारित है। तांत्रिक योग-पद्धति पर किसी स्त्री द्वारा लिखा गया यह संभवत: अकेला ग्रंथ है। काव्य में इस प्रकार की रचना उपहासप्रद है लेकिन स्त्री रचनाकार की रचना होने के कारण इसका जिक्र करना मुनासिब मालूम पड़ता है। इसी तरह स्फुट काव्य लेखिका के रूप में यहां खगनिया का जिक्र करना भी बेहद जरूरी है।

खगनिया उत्तर प्रदेश के उन्नाव जिले के अंतर्गत रणजीत पुरवा ग्राम की निवासिनी थीं। इनका जन्म तेली वंश में हुआ था तथा इनके पिता का नाम बासू था। यद्यपि इन्हें नियमित रूप से शिक्षा प्राप्त करने का अवसर नहीं मिला परंतु जन्मजात प्रतिभा तथा मुखरता के कारण ये पहेलियाँ बनाने में बहुत प्रवीण हो गई थीं। उत्तर प्रदेश में खगनियां की पहेलियां बहुत प्रचलित हैं। हिन्दी साहित्य में पहेलियों तथा मुकरियों के सर्वप्रथम तथा श्रेष्ठ लेखक अमीर खुसरो हुए। प्राय: सभी इतिहासकारों ने अमीर खुसरो को उस दौर के प्रमुख कवियों में गिना और पहेलियों एवं मुकरियों के लिए उनकी सराहना की। लेकिन साहित्य की मुख्य धारा में खगनिया पर घोर चुप्पी एक बड़ा सवाल है। खगनिया ने अपना परिचय कुछ इस प्रकार दिया है-

[146] सं. जगदीश्वर चतुर्वेदी, सुधा सिंह, स्त्री-काव्यधारा (अनामिका पब्लिशर्स, दिल्ली, 2006), पृ.सं. 139

सिर पै लिये तेल की मेटी।

घुमाते हौं तेलिन की बेटी।।

कहौं पहेली बहले हिया।

मैं हौं बासू केर खगनिया।।[147]

इनका रचनाकाल संवत् 1660 वि. के लगभग माना जाता है। इनकी वाग-विदग्धता एवं अभिव्यंजना की चातुरी इनकी पहेलियों में देखी जा सकती है।

लम्बी चौड़ी आंगुरी चारि। दुहों ओर तें डारिनि कारि।।

जीव न होय जीव को गहै। बासू केर खगनिया कहै।।[148] (कंघी)

रहत पीताम्बर वाके काँघे। गूँजत पुहुपन पै मन साधे।।

कारो है पै रस को गहै। बासू केर खगनिया कहै।।[149] (भौंरा)

तिरिया देखी एक अनोखी। चाल चलत है चलबल चोरी।।

मरना जीना तुरत बताय। नेकु न अन्तहु पानी खाय।।

हाथन माहै सबकै रहै। बासू केर खगनिया कहै।।[150] (नाड़ी)

चुप्पी साधे नेकु न बोले। नारी वाकी गांठें खोले।

दरवाजन में ऐसन लटके। चोरन ते स्वागत बेखटके।।

रच्छा घर की करता रहें। बासू केर खगनिया कहै।।[151] (ताला)

---

147 डॉ. सावित्री सिन्हा, मध्यकालीन हिन्दी कवयित्रियाँ (आत्माराम एण्ड सन्स, दिल्ली, 1953), पृ.सं. 287

148 डॉ. सावित्री सिन्हा, मध्यकालीन हिन्दी कवयित्रियाँ (आत्माराम एण्ड सन्स, दिल्ली, 1953), पृ.सं. 287

149 डॉ. सावित्री सिन्हा, मध्यकालीन हिन्दी कवयित्रियाँ (आत्माराम एण्ड सन्स, दिल्ली, 1953), पृ.सं. 287

150 डॉ. सावित्री सिन्हा, मध्यकालीन हिन्दी कवयित्रियाँ (आत्माराम एण्ड सन्स, दिल्ली, 1953), पृ.सं. 287

151 डॉ. सावित्री सिन्हा, मध्यकालीन हिन्दी कवयित्रियाँ (आत्माराम एण्ड सन्स, दिल्ली, 1953), पृ.सं. 287

दुइनो एक अजीब अनोखी। बड़ी करारी रंगति चीखी।।

जाते ये दोनों लग जाती। बिनु देखे नहिं वाही अघाती।।

बिना न चाके जीवन रहै। बासू केर खगनिया कहै।।[152] (आँख)

खगनिया की भाषा ठेठ तथा ग्रामीण अवधी है, जिसमें अवधी के ग्रामीण शब्दों का भी प्रयोग है-

बाह्मन खावै पेटवा फार। लाली है रंगसि वहि कथार।

आँखिन माँ सब लेय लगाय। लरिका वाते सुख पाय।।[153]

भाषा में यत्र-तत्र खड़ी बोली का भी प्रयोग दिखता है। खगनिया की विदग्धता तथा वाक्चातुरी के कारण उनकी पहेलियों का अपना महत्वपूर्ण स्थान है।

[152] डॉ. सावित्री सिन्हा, मध्यकालीन हिन्दी कवयित्रियाँ (आत्माराम एण्ड सन्स, दिल्ली, 1953), पृ.सं. 288

[153] डॉ. सावित्री सिन्हा, मध्यकालीन हिन्दी कवयित्रियाँ (आत्माराम एण्ड सन्स, दिल्ली, 1953), पृ.सं. 288

उत्तरमध्यकालीन स्त्री रचनाकारों की अंतश्चेतना का वैशिष्ट्य

भक्ति एवं आध्यात्म के क्षेत्र में स्त्री स्वर का विशिष्ट महत्व रहा है। आध्यात्मिक क्षणों में पुरुष भक्त भी अपने को स्त्री रूप में प्रस्तुत करता है। भक्ति की अवधारणा जितनी प्राचीन है, संभवत: उतना ही प्राचीन 'स्त्री भक्ति स्वर' है। भक्ति में जिस संपूर्ण समर्पण की चाह है, वह संपूर्ण समर्पण इस भारतीय पितृसत्तात्मक समाज व्यवस्था में स्त्रियों एवं शूद्रों के यहाँ ही मिलता है। शूद्रों व स्त्रियों ने पुरुष सत्ता के कड़े नियंत्रण तंत्र में पुरुषों की अधीनता एवं दासत्व को स्वीकार किया। ये संपूर्ण सेवाभाव से पुरुष सत्ता के सम्मुख प्रस्तुत हुआ करते थे। स्त्रियों की इसी अधीनता और सेवाभाव की साकार अभिव्यक्ति अक्सर स्त्री स्वर में दिख पड़ती थी, जिसे पुरुष भक्तों ने ईश आराधना के लिए अपनाया और अपने आध्यात्मिक मुक्ति की ओर बढ़े।

बौद्ध धर्म ने सर्वप्रथम जाति व जेंडर से ऊपर उठकर स्त्रियों व शूद्रों को मुक्ति की राह दिखायी थी। कालांतर में समय के दवाब के कारण वैष्णव भक्ति परंपरा ने भी जाति व जेंडर से ऊपर उठने की कोशिश की। जाति व जेंडर की अधीनता वैष्णव भक्ति परंपरा के कुछ पंथों में विशेष महत्व रखती है। विष्णु पुराण, भगवद्गीता तथा भागवत पुराण उस वैष्णवी धारा को प्रचारित करते हैं, जिसमें शूद्रों व स्त्रियों को इन महाकाव्यों और पुराणों की कथाएँ तथा शिक्षाएँ सुनने की अनुमति है। इस तरह इन दोनों समूहों को वैष्णव जनसमूह में सम्मिलित तो कर लिया गया, कितु वे रहे वही निकृष्ट जीव, जिन्हें इस समूह की एकता के लिए खतरे के रूप में देखा जाता था। वैष्णव साहित्य ने इन दोनों समूहों की पतित प्रकृति और दासत्व की खूब चर्चा की। जहाँ इन्होंने स्त्रियों को माया का प्रलोभन कहा, शूद्रों की अस्वच्छता, मिथ्यावादिता, चोरी, व्यर्थ झगड़ालू प्रवृत्ति, हिंसक, इंद्रिय लोलुप कहकर निकृष्ट जाति के रूप में वर्णित किया; वहीं इन्होंने इनके दासत्व को एक आदर्श तथा आत्मिक समृद्धि के प्रतीक के रूप में प्रस्तुत किया। इनके अनुसार ये आदर्श भक्त हो सकते हैं। इसी कारण भागवत पुराण के एक रूपक कथा में 'भक्ति' का स्त्री रूप में मानवीकरण किया गया है-''एक बार वृंदावन में नारद मुनि की भेंट एक मुसीबत की मारी दुखिया युवती से होती है जो अपने निकट पड़े दो अचेत वृद्धों को होश में लाने की चेष्टा कर रही है। वह

नारद को बताती है कि वह भक्ति है और वे वृद्ध उनके पुत्र ज्ञान और वैराग्य हैं। कलियुग के आने के साथ ही वह और उसके पुत्र वृद्ध, अशक्त और तेजहीन हो गये थे। अब वृंदावन में प्रवेश करते ही भक्ति ने अपनी युवावस्था और सौंदर्य पुन: प्राप्त कर लिया किंतु उनके पुत्र अब भी वैसे ही हैं। ...'प्रेमरूपा' नाम से जानी गयी यह युवती भागवत पुराण के उपदेश रूपी आभूषणों से सुसज्जित थी। मुनियों के अनुसार वह भागवत कथा के अर्थतत्व से उपजी थी और उसे सदैव वैष्णवों के ह्रदय में बसे रहने का निर्देश दिया गया। भक्ति को विष्णु भक्तों के ह्रदय में प्रतिष्ठित देखकर कृष्ण भी स्वर्ग से उतरकर भक्तों के बीच विराजमान हो गये।'' इस रूपक कथा के माध्यम से भागवत पुराणकार ने भक्ति में स्त्री भाव की छवि को तो उकेरा ही है, साथ-साथ ईश्वरोपासना का स्त्रीकरण भी किया है जिसमें संपूर्ण समर्पण के भाव निहित हैं।

भागवत पुराण में सभी पुरुषों की अनिवार्य प्रकृति गोपियों की तरह है। इसमें मनुष्य के कृष्ण के साथ कई सम्भाव्य संबंधों में एक संबंध है- गोपी की तरह कृष्ण की प्रेमिका बनना। स्त्री भाव को भक्ति के प्रकारों और आदर्शों में शामिल किया गया। वैष्णव संप्रदायों में एकमात्र पुरुष कृष्ण हैं बाकी समस्त भक्त स्त्री। ईश्वरोपासना में स्त्री स्वर का अपना इतिहास रहा है। यह सगुण भक्तों व निर्गुणिया संतों से लेकर द्वैत व अद्वैत की धारणा, सूफी परम्परा, शैव एवं वैष्णव धारा तक फैला है। चूंकि ऐसा माना जाता है कि पुरुषत्व संपूर्ण समर्पण के मार्ग में बाधा खड़ा कर सकता है, इसलिए पुरुष भक्तों ने भी ईश-आराधना के लिए स्त्रीत्व की धारणा को आदर्श रूप माना। स्त्रीत्व अब एक ऐसा गुण है जिसे पुरुष भी आत्मिक लाभ के लिए अपना सकते हैं।

'ईश्वरोपासना का स्त्री-स्वर सातवीं शती के आलवार संतों के यहां देखा जा सकता है। तमिल वैष्णव संत नम्मालवार (600-800 AD) स्वयं को एक स्त्री के रूप में देखते थे। नयनारों ने भी भक्त को प्रेम पीड़ित स्त्री कहा- ''भक्त एक प्रेम पीड़ित स्त्री है और ईश्वर उसका चितचोर।'' 12वीं शती की कर्नाटक की शिवयोगिनी संत 'अक्कमहादेवी' ने भी एकमात्र पुरुष को देखा था -

मैंने देखा है उस अभिमानी स्वामी को
जिसके लिए सभी पुरुष,हाँ सभी पुरुष

हैं बस नारियां, पत्नियाँ।'[1]

निर्गुणिया संतों ने भी अपने आध्यात्मिक क्षणों में खुद को स्त्री ही माना है। 'कहि कबीर मोहि' बियाह चले हैं, पुरुष एक भगवाना, की तरह की पंक्तियाँ निर्गुण संतों की रचनाओं में दिख जाएंगी। दादू दयाल स्वयं को विरहिणी कहते हुए मात्र ईश्वर को ही पुरुष मानते हैं-

''पुरुष हमारा एक है, हम नारी बहु अंग

जै जै ताही सौ, मैले तिसि रंग।।''[2]

'पुरुष हमारा एक है' का ध्वन्यार्थ ईश्वर के पुरुषत्व और भक्त के स्त्रीत्व को आधार मानकर पुरुष और स्त्री भक्तों की समानता का दावा करती है, लैंगिक भेदभाव को खत्म करने की बात करती है। 18वीं शती में मीराबाई के जीवनीकार 'प्रियादास' ने मीराबाई से संबंधित एक कथा कही जिसमें पुरुष भक्तों का अंतर्विरोध साफ झलकता है। कथा इस प्रकार है- ''कृष्ण-प्रेम के लिए अपना सर्वस्व त्याग देने वाली मीरा जब श्री गौरांग (चैतन्य) के मुख्य भक्तों में से एक, वृंदावन के रूप गोस्वामी से भेंट करने पहुंची तो स्वयं को एक उच्च श्रेणी का तपस्वी मानने वाले रूप ने मीरा के स्त्री होने के कारण, मिलने से इनकार कर दिया क्योंकि वैरागी के लिए स्त्री का मुख देखना निषिद्ध है। रूप का संदेश मिलने पर मीरा ने उत्तर दिया, ''तो क्या वह एक पुरुष हैं? यदि हाँ, तो उन्हें वृंदावन में रहने का कोई अधिकार नहीं है। पुरुषों का प्रवेश तो यहां वर्जित है। क्या गोस्वामी को ज्ञान नहीं कि यहां सिर्फ एक ही पुरुष हैं।''

मीरा की यह कथा जहां भक्ति एवं अध्यात्म के क्षेत्र में लैंगिक भेदभाव को खत्म करने की ओर इशारा करती है तो वहीं पुरुष भक्तों द्वारा प्रयुक्त स्त्री स्वर और स्त्री विरोधी, पितृसत्तात्मक पुरुषीय वैराग्य के बीच के अंतर्विरोध को भी उद्घाटित करती है। यह अंतर्विरोध पुरुष भक्तों की रचनाओं में कई स्तरों पर झलकता है। ऐसा लगता है कि ये भक्त पितृसत्तात्मक मूल्य संरचना को यथावत बनाए रखना चाहते हैं और कहीं-कहीं पुरुष सत्ता को मजबूत करते भी नजर आते हैं। तब सवाल उठता है कि जेंडर एक जैविक तथा सामाजिक धारणा से आगे बढ़कर आध्यात्मिक क्षेत्र में क्रियाशील तो हो उठता है

[1] कुमकुम संगारी, मीराबाई और भक्ति की आध्यात्मिक अर्थनीति (वाणी प्रकाशन, दिल्ली, 2015),पृ.सं 84-85

[2] कुमकुम संगारी, मीराबाई और भक्ति की आध्यात्मिक अर्थनीति (वाणी प्रकाशन, दिल्ली, 2015),पृ.सं 87

लेकिन फिर भी पितृसत्ता की संरचना को तोड़ नहीं पाता ऐसा क्यों? ईश्वरोपासना का स्त्री स्वर लैंगिक विभेद को मिटाने की बजाए सामंती स्तरीकृत समाज को ही सुदृढ़ करता है।

दरअसल ''स्त्री स्वर एक खास भाव-विन्यास का प्रतिनिधित्व करता है। यह एक विशेष सामाजिक संबंध को व्यक्त करता है, दासत्व के एक विनम्र किंतु प्रबल रूप का प्रतीक है।''[3] इसका जन्म पितृसत्तात्मक दासत्व से हुआ है। 'मीराबाई और भक्ति की आध्यात्मिक अर्थनीति' पुस्तक में 'कुमकुम संगारी' मीरा के गीतों पर बात करती हुई लिखती हैं कि- ''अपने सच्चे अर्थ में यह पितृसत्तात्मक दासत्व से जन्म लेने वाला स्त्री-स्वर है, जो स्वैच्छिक गुलामी तथा स्व-अवमानना को एक भावात्मक संवेग प्रदान करता है।''[4] दासत्व का यह विशेष गुण संपूर्ण मनुष्य जाति का आदर्श बन जाता है। संपूर्ण मध्यकाल में दासत्व का यह भाव विशिष्ट स्थान रखता है। स्त्रियों को इस स्वैच्छिक दासता में उदारता दिखाई देती है क्योंकि ईश्वर सत्ता में शासक भी शासित है, सेवक है। वे राहत और सुरक्षा के अहसास के साथ ईश्वर से प्रगाढ़ता स्थापित करती है। 'मेरे तो गिरधर गोपाल दूसरो न कोई' मीरा का यह पद प्रगाढ़ संबंध की ओर ही इशारा करता है। अब स्त्रियाँ पति या राजा की जगह ईश्वर को रखती है। पति और राजा के रूप में ईश्वर की कल्पना से, ईश्वर उत्पादन तथा प्रजनन के कार्यों से भी जुड़ जाता है और स्त्री-देह को नियंत्रित करने वाला हो जाता है। हम प्रथम अध्याय में देख चुके हैं कि किस तरह से पवित्रता, शुचिता के नाम पर तथा देवदासी प्रथा के माध्यम से स्त्री देह को भोगा जा रहा था। हम यह जान चुके हैं कि धर्मतंत्र पितृसत्ता की मूल्य संरचना को ही मजबूत कर रहा था। धार्मिक ग्रंथों में वर्णित चार युगों (सतयुग, त्रेता, द्वापर, कलियुग) के चक्रीय काल क्रम और सामाजिक अधीनता में एक रोचक संबंध है। ये युग कथित सनातन और असनातन सामाजिक समूहों के बीच के संघर्ष को प्रतीकात्मक समयावली में दर्शाते हैं। वेद-पुराणों के अनुसार प्रथम युग में सत्य की प्रधानता थी, ज्ञान और धर्म का बोलबाला था। लोग काम रहित थे तथा संतति संभोग से नहीं बल्कि मानसिक गर्भाधान द्वारा जन्म लेती थी। यह युग एक प्रकार का यूटोपिया है। त्रेतायुग में यज्ञ की प्रधानता थी। कृषि कार्य व

[3] कुमकुम संगारी, मीराबाई और भक्ति की आध्यात्मिक अर्थनीति (वाणी प्रकाशन, दिल्ली, 2015),पृ.सं 84

[4] कुमकुम संगारी, मीराबाई और भक्ति की आध्यात्मिक अर्थनीति (वाणी प्रकाशन, दिल्ली, 2015),पृ.सं 77

उत्पादन की प्रक्रिया शुरू हो चुकी थी। राजतंत्र, कानून व्यवस्था, जाति की अवधारणा का प्रादुर्भाव हो चुका था। तीसरे युग को अभिव्यक्त करने वाले महाकाव्य 'रामायण' में वाल्मीकि ने शंबूक की हत्या एवं पति परायण सीता की अग्नि परीक्षा के बावजूद परित्यक्त जीवन के माध्यम से यह दिखाया है कि शूद्र व स्त्री उस समाज व्यवस्था में सबसे निचले पायदान पर हैं, अधीन हैं। तीसरे युग द्वापर में जीवन के चार आश्रम व जातियों के वर्गीकरण अस्तित्व में आये। इस युग को अभिव्यक्त करने वाले महाकाव्य 'महाभारत' में लेखक ने युगीन परिदृश्य को दिखाते हुए छल, छद्म, ईर्ष्या, द्वेष, अनाचार को भी दिखाया है। इस तरह कलियुग का प्रादुर्भाव हुआ। कलियुग को भविष्य में होने वाले अनाचारी युग की तरह दिखाया गया है।

विष्णु पुराण, भागवत पुराण आदि ग्रंथों में भविष्य में आने वाले युग कलियुग की विशेषताओं को व्यक्त किया गया है- अधर्म का प्रसार, सामाजिक एवं न्यायिक मानदंडों का विखंडन, जाति व्यवस्था का ह्रास, वर्णाश्रम का पतन, निम्न जातियों का शासन आदि। इन ग्रंथों में यह आशंका व्यक्त की गई है कि भविष्य में पितृसत्ता की मूल्य संरचना टूट जाएगी। क्योंकि कलियुग का सबसे प्रमुख लक्षण पितृसत्ता के मानदंडों का विच्छिन्न होना है। कलियुग के लक्षणों में यह भी कहा गया है कि विवाह संस्था का ह्रास होगा, स्त्रियाँ स्वेच्छाचारी होगी, संपत्ति न रहने पर पत्नियों द्वारा पतियों को त्याग दिया जाएगा, स्त्रियाँ पिता तथा पति के प्रति आज्ञाकारी नहीं होगी आदि-आदि। स्त्रियों का पूर्ण अध:पतन हो जाएगा। इसी कारण इस युग के स्मृतिकारों ने स्त्रियों को घर में कैद करने की वकालत की, स्त्रियों की मुक्ति पति, पिता व पुत्र के सेवाभाव में देखा। पितृसत्ता का प्रभुत्व कलियुग में सबसे असुरक्षित था। इस कारण तमाम स्मृतिग्रंथकारों, पुराणकारों ने चीख-चीख कर कहा कि पितृसत्ता के आगे समर्पण मात्र ही स्त्रियों की मुक्ति है। स्त्रियों को अपनी मुक्ति के लिए सिर्फ मन, कर्म, वचन से अपने स्वामी का आदर देना होगा। समाज तथा पितृसत्ता की अधीनता मुक्ति की राह प्रशस्त करेगी। इसी कारण पितृसत्तात्मक मूल्य संरचना को बरकरार रखने के लिए पहले स्त्री स्वर एवं स्त्रियों को वैष्णव परंपरा में जगह दी गयी। ''यहां ईश्वर, उच्च जाति के पुरुष तथा स्त्री-शूद्र के बीच त्रिआयामी संबंध स्थापित किया गया, जिसमें उच्च जाति का पुरुष एक मध्यस्थ की भूमिका में सामने आता है। इस पुरुष की सत्ता एक आदर्श स्थिति में है-

वह अपनी दयालुता के कारण अपनी सेवा का मौका देकर स्त्रियों व शूद्रों को निर्वाण की सरल राह दिखा रहा है।''[5] दरअसल यह ''स्त्रियों और शूद्रों के संभावित सशक्तीकरण के भय की प्रतिक्रिया है। अब निर्वाण प्राप्ति की योजनाओं में इन्हें भी स्थान प्रदान करने का प्रलोभन दिया गया।''[6] इस तरह के छूट के बाद भी जाति व जेंडर की अवधारणा नहीं बदली।

जेंडर की अवधारणा को अब शृंगार तथा रहस्यवादी अनुभवों में पिरोया गया। परमतत्व से विरह की दशा को समझने के लिए विरहणी स्त्री के विरह को समझा गया। स्त्रीत्व की अवधारणा आध्यात्मिक क्षेत्र में क्रियाशील हो उठी। अभी तक जिस स्त्री एवं स्त्रीत्व को मुक्ति के मार्ग का रोड़ा माना जाता था, अब वही स्त्रीत्व एवं स्त्री स्वर परमतत्व के गूढ़ रहस्यों तक पहुंचा सकता था। भक्त और भगवान के अबोध गम्य संबंधों को सांसारिक धरातल पर मूर्त कर सकता था। आध्यात्मिक मुक्ति के लिए पुरुष अपना पुरुषत्व त्यागने के लिए एड़ी-चोटी का प्रयास कर रहे थे। इस संदर्भ में गुजराती संत नरसी मेहता का यह पद देखा जा सकता है-

> ''प्रेम में विह्वल होकर मैंने गोपियों के उस प्रियतम की बांह थामी...
> मैं बाकी सब भूल गया। यहाँ तक कि मेरा पुंसत्व भी मेरा साथ छोड़ गया।
> मैंने किसी स्त्री की तरह नाचना-गाना प्रारंभ कर दिया।
> अपनी देह मुझे बदली हुई प्रतीत हुई, मैं गोपियों में से एक हो गया।
> मैं एक सखी की भांति मध्यस्थ की भूमिका में था
> और मैंने राधा को उसके रूप गर्विता के लिए उपदेश देना शुरू कर दिया...
> ऐसे क्षणों में मैंने अतुलनीय माधुर्य और आनंद का अनुभव किया है।
> वह जो राधा संग बैठकर गा रहा है वह उसी क्षण मेरे भी हृदय में बैठा है।''[7]

कुमकुम संगारी इस पद को देखकर लिखती हैं कि- ''यहाँ निर्विवाद रूप से दिखाई देता है कि जेंडर एक सामाजिक प्रवृत्ति और अभिव्यक्ति का साधन दोनों है, कि जेंडर एक सांस्कृतिक निर्मित है

---

[5] कुमकुम संगारी, मीराबाई और भक्ति की आध्यात्मिक अर्थनीति (वाणी प्रकाशन, दिल्ली, 2015),पृ.सं 72
[6] कुमकुम संगारी, मीराबाई और भक्ति की आध्यात्मिक अर्थनीति (वाणी प्रकाशन, दिल्ली, 2015),पृ.सं 72
[7] पशुराम चतुर्वेदी, भक्ति साहित्य में मधुरोपासना (भारती भंडार, इलाहाबाद, 1961), पृ.सं 47

इसलिए जेंडर आधारित कार्यकलाप परस्पर बदले जा सकते हैं। पुरुष उपासक बिना हिचकिचाहट के अपने नाम के साथ स्त्री स्वर का प्रयोग कर सकते हैं। आनंद समाधि में पुरुष स्त्री की तरह गा सकता है और पुरुष भक्त अपना पौरुष त्याग कर स्त्री बनने की इच्छा रख सकते हैं।''[8] मध्यकाल के तमाम पुरुष संतों ने अपने आध्यात्मिक क्षणों में खुद को स्त्री कहा और स्त्री स्वर का प्रयोग किया। उत्तरमध्यकाल तक आते-आते नारी संतों ने भी स्त्री स्वर का प्रयोग किया। स्त्री-पुरुष संतों की पर्याप्त साझेदारी के बावजूद पुरुष सत्ता के संबंधों में कोई भौतिक परिवर्तन नहीं हो सका। ना ही इन स्वरों ने (स्त्री-पुरुष संतों की बानियों ने) लैंगिकता की परिभाषाएँ गढ़ने वाले और उसे आश्रय देने वाले सामाजिक तंत्र को ही छिन्न-भिन्न किया। क्योंकि आध्यात्मिक क्षेत्र में स्त्रीत्व की अवधारणा के सक्रिय होते ही यह बात साफ हो गयी थी कि लैंगिकता का वास्तविक उद्गम सांस्कृतिक है प्राकृतिक नहीं। तब यहाँ पर यह जरूरी हो जाता है कि काव्य में स्त्री स्वर की पड़ताल की जाए और पता किया जाए कि आखिर वे कौन से कारक हैं जो लैंगिक विभेद को बरकरार रखना चाहते हैं। स्त्री स्वर की प्रबल अभिव्यक्ति के बावजूद स्त्रियों की मुक्ति क्यों नहीं हो पायी। इन्हें समझने के लिए हम काव्य में पुरुषों द्वारा प्रयुक्त स्त्री स्वर एवं स्त्री द्वारा प्रयुक्त स्वरों की पड़ताल करेंगे।

पुरुष रचनाकारों का स्त्रीवादी पाठ

अभी तक हम देख चुके हैं कि पुरुष रचनाकारों ने अपनी आध्यात्मिक मुक्ति, परमतत्व के गूढ़ रहस्यों को जानने के लिए, उससे एकाकार होने के लिए स्त्री स्वर को अपनाया। ईश्वरोपासना के स्त्रीकरण के पीछे क्या कारण थे? इस सवाल पर भी हमने अपनी बात रखी। अब यहां पर हम प्रमुख पुरुष रचनाकारों के माध्यम से उनके नारी संबंधी दृष्टिकोण को जानने का प्रयास करेंगे। मीराबाई के प्रसंग में जो अंतर्विरोध रूप गोस्वामी के यहां झलकता है, ठीक उसी तरह का अंतर्विरोध, असंगति तमाम पुरुष रचनाकारों में देखने को मिल सकती है। हम देख चुके हैं कि किस तरह पुरुष सत्ता स्त्रियों के दासत्व को सहज और प्राकृतिक मानकर स्त्री स्वर को समाज के लिए अनिवार्य आदर्श और भक्ति का माध्यम मानता है। अब हम यहां पर यह देखेंगे कि किस तरह पुरुष रचनाकार वेद-पुराण-स्मृति ग्रंथों की तरह

[8]कुमकुम संगारी, मीराबाई और भक्ति की आध्यात्मिक अर्थनीति (वाणी प्रकाशन, दिल्ली, 2015),पृ.सं 89

स्त्रियों को मूलत: अनैतिक प्रवृत्ति का मानते हैं। ये रचनाकार अपनी रचनाओं में लगातार पानी पी-पी कर स्त्रियों को गाली देते हैं। कुलटा, रंडी, नागिन, गंवार, कुलबोरनी आदि शब्दों से सामान्य स्त्रियों का परिचय देते हैं। इनका वैदिक दृष्टिकोण सामान्य स्त्रियों के प्रति विरोधाभासों से भरा हुआ है। मानुष सत्य की बात करने वाले संत कवियों का भी स्त्री संबंधी दृष्टिकोण परंपरागत मानसिकता दुविधाग्रस्त की ओर ही इशारा करता है।

संस्कृत के नीति ग्रंथों से लेकर जैन तथा नाथ काव्य में नारी को साधना के मार्ग में बाधा माना गया है। वज्रयानियों की कामुकता एवं इंद्रियपरायणता की प्रतिक्रिया में नाथ-पंथ में नारी पूर्ण रूप से त्याज्य है। निर्गुण कवियों ने भी नारी को अविधा का प्रतीक 'माया-मोह' का आवरण मानकर उसकी भर्त्सना की है। तमाम प्रगतिशीलता के बावजूद कबीर नारी की संगति को अत्यंत दूषित और अकल्याणकारी बताते हैं। उनके अनुसार नारी की छाया मात्र से विषधर अंधा हो जाता है। स्त्री तो सुंदर नागिन (कामिनी सुन्दर सर्पिणी, जो छेड़े तिहि खाए) या उससे भी बदतर है, यहाँ तक कि सुन्दर स्त्री से अच्छा तो फांसी का फंदा है (कबीर सुन्दरि ते सूली भली)। यदि माया जगत को जलाने वाली आग है तो स्त्री ज्वाला है। इसलिए कबीर कहते हैं कि- 'स्त्री चाहे पत्नी हो या कोई अन्य, उसकी संगति नरक को ले जाता है-

''कबीर नारी पराई अपनी, भुगत्या नरकि जाये।
आगी-आगी सब एक है तामैं हाथ न बांहि।।''[9]

मध्यकाल के सबसे प्रगतिशील संत कवि कबीर यहीं नहीं रूकते। वे आगे कहते हैं कि- ''स्त्री न सिर्फ 'जगत का मल' है, वह अच्छी वस्तु में भी बुरापन खोज निकालती है, अधम नर ही उससे प्रेमलीला करते हैं, चरित्रवान पुरुष उससे परे ही रहते हैं। स्त्री नरक का कुण्ड है, इसमें गिरने से विरले ही बच पाते हैं(कबीर नारी कुण्ड नरक का, बिरला थामे बागि), स्त्री ऐसा जहरीला फल है जिसे छूने वाला जलता है और खाने वाला तो मर ही जाता है। कबीर की रचनाओं के एक खण्ड में स्त्रियों को पुरुष की मुक्ति के मार्ग में रोड़ा बताया गया है- वह भौतिक जगत में माया का मूर्त रूप है और आध्यात्मिक जगत

[9] कुमकुम संगारी, मीराबाई और भक्ति की आध्यात्मिक अर्थनीति (वाणी प्रकाशन, दिल्ली, 2015),पृ.सं 97

में माया का मानवीकरण। माया एक कामोद्धत दुराचारिणी स्त्री का आदर्श रचती है जिसने विवाह संस्था का उल्लंघन किया है। वह मीठा बोलकर बहकाने वाली स्त्री है (माया महाठगिनि) वह एक निष्ठुर वेश्या है, जो पुरुष को अपनी अदाओं से रिझाती है किंतु किसी को भी अपना स्वामी नहीं मानती। पितृसत्तात्मक मूल्य संरचना में स्वामी का अपना महत्व है। स्त्री कपटी है, विश्वासघातिनी है, पापिन-डाकिनी है जो पुरुषों को खा जाती है। कबीर के अनुसार - 'वह एक ऐसी कुंवारी है जो विवाह से इनकार करती है, फिर विवाह के बाद एक ऐसी अनिच्छुक पत्नी बन जाती है जो मायका छोड़ ससुराल नहीं जाना चाहती। यदि ससुराल में प्रवेश भी करती है तो पति या सांई के साथ दैहिक संबंध नहीं रखना चाहती।' कहने का आशय यह है कि ये माया रूपी स्त्री पितृसत्ता की मूल्य संरचना को धता बताती है।

"एक सुहागिन जगत पियारी
सगले जीउ जंत की नारी
खसम मरे तो नार न रोवे
उस रखवारा औरउ होवे
रखवारे का होय विनास
आगे नरक यहां भोगविलास"[10]

x x x x x

"रही एक की भई अनेक की, वेश्या बहुत भतारी
कहिन कबीर काके संग जरी है बहु पुरसन की नारी"[11]

इस दोनों रचनाओं को साथ-साथ देखें तो कबीर का पुरुष स्वर साफ दिखता है। जहाँ पहले में पति के मरणोपरांत न रोने वाली विधवा स्त्री, कबीर के दुख का कारण है तो दूसरे में व्यंग्य करते हुए कबीर सहृदय जनों से सवाल करते हैं कि- 'यदि कोई वेश्या अनेक पुरुषों के साथ सहवास करती है तो वह जलेगी किसकी चिता पर? 'कबीर का दुख' पुरुषसत्ता के टूटन का दुख है। अक्सर आलोचक कबीर

[10] कुमकुम संगारी, मीराबाई और भक्ति की आध्यात्मिक अर्थनीति (वाणी प्रकाशन, दिल्ली, 2015),पृ.सं 96
[11] कुमकुम संगारी, मीराबाई और भक्ति की आध्यात्मिक अर्थनीति (वाणी प्रकाशन, दिल्ली, 2015),पृ.सं 105

के इन पदों को आध्यात्मिक रंग देने की चेष्टा करते हैं और कई बार सफल भी होते हैं। मगर यहाँ पर सवाल यह है कि कबीर जैसा सचेत प्रगतिशील कवि जब अपने आध्यात्मिक क्षणों में बिम्ब गढ़ते हैं, प्रतीक का चयन करते हैं तो उनके मानस-पटल पर स्त्री और स्त्री के ये रूप ही क्यों आते हैं? स्वतंत्र रूप से देह व्यापार करने वाली वेश्याएँ पितृसत्तात्मक मानदंड को तोड़ रही थी। विवाह संस्था को नकार रही थीं। स्वामी एवं दासी का संबंध टूट रहा था। तब कबीर जिस स्त्री छवि की कल्पना करते हैं उसे भी देखा जाना चाहिए-

"जो पै पतिव्रता हवै नारी, कैसे हे रहउ से पियाहि पियारी

तन मन जीवन सौंपी सीरा, ताहि सुहागिन कहे कबीरा।।"[12]

स्त्री को पूर्ण रूपेण पति के अनुसार ढल जाना चाहिए और सुहागिन बनने के लिए तन, मन और बुद्धि का समर्पण अपने पति के प्रति कर देना चाहिए। उनके अनुसार स्त्री का शृंगार, जो मात्र पति को रिझाने के लिए ही किया जाना चाहिए, सिर्फ विवाहित स्त्रियों के लिए ही उचित है (कुंवारी कन्या करें सिंगार, सोभू न पाये बिन भरतार) और यदि वे पति को रिझा न पायें तो उनका शृंगार व्यर्थ है। कबीर कहते हैं कि एक आज्ञाकारी पतिव्रता न होने पर स्त्री पति का प्रेम नहीं जीत पाती वह तो श्वान या सुअरी के समान है और सुंदर कहे जाने योग्य ही नहीं है -

"सोई तिरिया जाके पतिव्रत आज्ञाकार न लोवै

और सकल आ कूकरि, सूकरि सुन्दरि नाउ ना औवे"[13]

कबीर पतिव्रता नारी की गुणगान करते नहीं अघाते हैं। कबीरदास कहते हैं -

"पतिव्रता मैली भली काली कुचिल कुरूप।

पतिव्रता के रूप पर वारी कोटि सरूप।।"[14]

कबीर द्वारा पतिव्रता की अतिशय प्रशंसा के संदर्भ में हजारी प्रसाद द्विवेदी ने कहा है कि- ''कबीरदास भक्त और पतिव्रता को एक कोटि में रखते थे। दोनों का धर्म कठोर है। दोनों की वृत्ति कोमल

---

[12] कुमकुम संगारी, मीराबाई और भक्ति की आध्यात्मिक अर्थनीति (वाणी प्रकाशन, दिल्ली, 2015),पृ.सं 99

[13] कुमकुम संगारी, मीराबाई और भक्ति की आध्यात्मिक अर्थनीति (वाणी प्रकाशन, दिल्ली, 2015),पृ.सं 99

[14] पूनम कुमारी, मध्यकालीन हिंदी काव्य का स्त्री पक्ष (अनामिका पब्लिशर्स, दिल्ली, 2015), पृ.सं 52

है, दोनों के सामने प्रलोभन का दुस्तर जंजाल है, दोनों ही कंचन धर्मी हैं ... बाहर से मृदु भीतर से कठोर, बाहर से कोमल भीतर से पुरुष। सबकी सेवा में व्यस्त पर एक ही आराधिका पतिव्रता ही भक्त के साथ तुलनीय हो सकती है।''[15] यह ठीक है कि पतिव्रता स्त्री भक्त के साथ तुलना योग्य हो सकती है लेकिन, जो पतिव्रता नहीं है वह श्वान और सुअरी के समान है, का क्या आशय है? तब कुमकुम संगारी का कबीर के संदर्भ में की गई टिप्पणी हमें राह दिखाता है कि- ''कबीर की रचनाओं में पितृसत्तात्मक मूल्य परिवार की इकाई पर केन्द्रित है जो संतान की वैधता को सुनिश्चित करती है, स्त्री की कामेच्छा पर नियंत्रण रखती है और वैवाहिक कानूनों को निरंतरता देती है। इस सीमा का अतिक्रमण करने वाली स्त्रियाँ उनके अनुसार पथभ्रष्ट की श्रेणी में आती हैं।''[16]

पतिव्रता पत्नी का स्वर 'भक्त कबीर' को परमतत्व से मिलवाता है। 'स्त्री स्वर' वाली कबीर की रचनाओं में वधू-पत्नी-आत्मा अपने अविनाशी दूल्हे, भरतार, खसम, ठाकुर या पति के प्रति उत्कंठित है। कुछ उदाहरण देखें -

"बालम आवो हमारे गेह रे, तुम बिना दुखिया देह रे
सब कोई कहें तुम्हारी नारी, मोको लागत लाज रे
दिल से नहीं दिल लगायो, तब लग कैसा स्नेह रे
अन्न ना भावे, नींद ना आवे, गृहबार घरे ना धीर रे
कामिन को है बालम प्यारा ज्यां प्यासे को नीर रे
है कोई ऐसे पर उपकारी, पिवसों कहै सुनाय रे
अब तो बेहाल कबीर भयो है, बिन देखे जिव जाय रे।"[17]

x x x x x x x x

"हो बलिया कब देखोंगी तोहि।
अब निस आतुर दरसन, ऐसी ब्यापै मोहि।।

---

[15] हजारीप्रसाद द्विवेदी, कबीर (राजकमल प्रकाशन, दिल्ली,), पृ.सं 161
[16] कुमकुम संगारी, मीराबाई और भक्ति की आध्यात्मिक अर्थनीति (वाणी प्रकाशन, दिल्ली, 2015),पृ.सं 98
[17] हजारीप्रसाद द्विवेदी, कबीर (राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, 2013), पृ.सं 199

नैन हमारे तुम को चाहें, रति न मानै हार।
बिरहु अगनि तन अधिक जराबै ऐसी लेहु बिचारि।।
सुनहुँ हमारि दादि गुसाईं अब जिन करहु बघीर।
तुम धीरज मैं आतुर स्वामी, काचै भांडे नीर।।
बहुत दिनन के बिछुरे माधौ, मन नहीं बांधे धीरे।
देह छता तुम मिलहु कृपा करि आरतिवंत कबीर।।"[18]

x x x x x x x

"दुलहिन गावहु मंगलचार
हम धरि आये हो राजा राम भरतार।।
तन रत करि मैं मन रत करिहौं, पंचतंत्र बराती।
रामदेव मोरै पाहुंने आये, मैं जोबन मद माती।।
सलिल सरोबर बेदी करिहौं, ब्रह्मा बेद उचारा।
रामदेव संगि भांवरि लैहौं, धनि-धनि भाग हमारा।
सुर तेतीस कौतिग आये, मुनिवर सहस अठ्यासी।
कहै कबीर हम ढयाहि चले हैं, पुरिष एक अविनासी।"[19]

उपर्युक्त पदों पर अगर ध्यान दें तो हम पाते हैं कि कबीर ने अपनी कोमल भावनाओं की अभिव्यक्ति स्वयं स्त्री बनकर की है, लेकिन इन स्त्री स्वरों में कहीं अहं का विसर्जन या दासत्व का प्रबल रूप नहीं मिलता। ये तमाम स्वर स्वामी की अधीनता, कामेच्छा और विरह से आप्लावित हैं। पति के बिना जीना बहुत मुश्किल हो रहा है। 'कामिन को है बालम प्यारा, ज्यां प्यासे को नीर रे', 'नैन हमारे तुम को चाहें, रति न मानै हार' बहुत दिनन के बिहुरे माधौ, मन नहीं बांधे धीर', 'रामदेव मोरे पाहुंने आये, मैं जोबन मद माती' आदि पदों में कामेच्छा का आप्लावन ही दिखता है। तब कुमकुम संगारी की यह

[18] पूनम कुमारी, मध्यकालीन हिंदी काव्य का स्त्री पक्ष (अनामिका पब्लिशर्स, दिल्ली, 2015), पृ.सं 53
[19] पूनम कुमारी, मध्यकालीन हिंदी काव्य का स्त्री पक्ष (अनामिका पब्लिशर्स, दिल्ली, 2015), पृ.सं 53

टिप्पणी ज्यादा प्रासंगिक हो जाती है कि- ''असल में पुरुष द्वारा स्त्री स्वर का प्रयोग एक दोहरे व्यक्तित्व का द्योतक है, क्योंकि भक्त साथ ही पुरुष वासना की संभावनाओं की बात कर रहा है। उन तरीकों के बारे में गीत गा रहा है जिन तरीकों से वह स्वयं को प्रेम किये जाने की इच्छा रखता है।''[20] कबीर और अन्य संतों के यहां स्त्री स्वर 'पतिव्रता' का स्वर है जो वैवाहिक एवं विधि-सम्मत प्रेम पर जोर देता है। यह स्वर एकनिष्ठ प्रेम एवं पातिव्रत धर्म की ओर इशारा करता है। यह एकनिष्ठता साधक को जन्म-मरण के चक्रव्यूह से मुक्ति दिला सकती है-

"धनि पिऊ एकई संगि बसेरा, सेज एक पे मिलन दुहेरा
धन्न सुहागिनि जो पिऊ भावे, काहे कबीरा फिरि जनम न आवे।"[21]

कबीर की रचनाओं में पत्नी की एकनिष्ठता की प्रतिष्ठा तो की ही गई है। साथ ही ईश्वर के माध्यम से एक अटूट वैवाहिक संबंध के प्रतीक को भी गढ़ा गया है, जो मुक्ति की ओर ले जाता है। ये मुक्ति की चाह स्त्रियों को अपने आदिम आकांक्षाओं से काटकर त्याग के लिए प्रेरित करता है। स्त्रियों को तमाम सांसारिक आशाओं एवं आकांक्षाओं से विमुख करने की पुरजोर वकालत करती है। ''विवाह के नियंत्रण से जन्मी 'पतिव्रता' की धारणा सांसारिकता से वैराग्य लेने में तो मदद करती है, साथ ही विवाह के नियंत्रण में भी उसका हाथ है।''[22]

अपने अंतर्विरोधों एवं विरोधाभासों के साथ सिर्फ कबीर ही अकेले पुरुष कवि नहीं हैं। कुछ असंगतियाँ कई भक्त पुरुषों में विद्यमान है। इनमें सबसे रोचक उदाहरण सूरदास का है। अक्सर आलोचक इन्हें मध्यकालीन सामंती समाज में स्त्री-स्वातंत्र्य के प्रश्न को उठाने वाला प्रगतिशील कवि कहा करते हैं, जिन्होंने भ्रमरगीत प्रसंग एवं लीला वर्णन में गोपिकाओं का स्वच्छंद रूप उकेरा है। लेकिन जब हम इसकी विस्तृत पड़ताल करते हैं तो बिल्कुल उलट निष्कर्ष पर पहुंचते हैं। सूरसागर के प्रथम खण्ड में सूरदास ने कृष्ण-वर्णन के पूर्व राजा पुरू की कथा में नारी के स्वभाव की तुलना नागिन से की है और नारी को नागिन से भी अधिक भयंकर माना है-

[20] कुमकुम संगारी, मीराबाई और भक्ति की आध्यात्मिक अर्थनीति (वाणी प्रकाशन, दिल्ली, 2015),पृ.सं 89
[21] कुमकुम संगारी, मीराबाई और भक्ति की आध्यात्मिक अर्थनीति (वाणी प्रकाशन, दिल्ली, 2015),पृ.सं 102
[22] कुमकुम संगारी, मीराबाई और भक्ति की आध्यात्मिक अर्थनीति (वाणी प्रकाशन, दिल्ली, 2015),पृ.सं 106

''सुखदेव कह्यौ सुनौ हौ राव, नारी नागिन एक सुभाव
नागिन के काटे विष होइ, नारी चितवत नर रहै मोह।''[23]

x x x x x x x x

''भामिनी और भुजंगिनी कारी, इनके विषहि डरिए,
रांचेहु विरचै, सुख नाहीं, भूल न कबहुं पत्यैये।''[24]

सूरदास भी संत कवियों की तरह स्त्रियों को पातिव्रत्य के लिए प्रेरित करते हैं (प्रभु कह्यो पतिव्रत करौ सदाई, हमको यही धर्म सुखदाई) वे गोपियों एवं कृष्ण के माध्यम से पुरुष आधारित सामाजिक रीति-रिवाजों की पुरजोर वकालत करते हैं। वे गोपियों को पति धर्म का पाठ पढ़ाते हुए कहते हैं कि-

''नारी पतिव्रत मानै जो कोई, चारि पदारथ पावै सोई।''[25]

पति-पत्नी एक दूसरे को त्यागने पर तिरस्कार के पात्र बनते हैं, पति का धर्म पोषण व सुरक्षा है, पत्नी का धर्म पति की सेवा करना है चाहे वह अधर्मी ही क्यों न हो-

''यह युवतिन को धर्म न होई
धिक सो नारि पुरुष जो त्यागै, धिक सो पति जो त्यागै सोई
पति को धर्म यही प्रतिपालै, युवती सेवा को धर्म।।''[26]

पति चाहे मूर्ख, रोगी अथवा पापी ही क्यों न हो उसकी पूजा ही मुक्ति का वैदिक मार्ग है इसलिए कपट तज कर पति पूजा की ओर अग्रसर होना चाहिए-

''कपट तजि पति पूजा करौ, कहा तुम जिंय गुनौ।
कंत मानहु भव तारोगी, और नहीं उपाइ।

[23] पूनम कुमारी, मध्यकालीन हिंदी काव्य का स्त्री पक्ष (अनामिका पब्लिशर्स, दिल्ली, 2015), पृ.सं 59
[24] पूनम कुमारी, मध्यकालीन हिंदी काव्य का स्त्री पक्ष (अनामिका पब्लिशर्स, दिल्ली, 2015), पृ.सं 59
[25] पूनम कुमारी, मध्यकालीन हिंदी काव्य का स्त्री पक्ष (अनामिका पब्लिशर्स, दिल्ली, 2015), पृ.सं 59
[26] पूनम कुमारी, मध्यकालीन हिंदी काव्य का स्त्री पक्ष (अनामिका पब्लिशर्स, दिल्ली, 2015), पृ.सं 60

ताहि तजि क्यों विपिन आइ, कहा पायौ आइ

विरघ अरू बिनु भागहुं को पतित जौ पति होइ

जऊ मूरख होइ रोगी तजै नाहीं जोइ।''[27]

पति को छोड़ने वाली स्त्री कुलीन नहीं रह जाती तथा उसे लोक-परलोक दोनों में दण्ड का भागी होना होगा।

"तजि भरतार और को भजिए, सो कुलीन नहिं होइ।

मरै नरक, जीवत इस जग में भला कहे नहिं कोई।।"[28]

कृष्ण प्रेम और गोपियों के संदर्भ में उन्मुक्त प्रेम के समर्थक सूरदास सामान्य नारी के प्रति असामान्य रवैया अपनाते हैं, वहीं कृष्ण के विराट एवं लीलाधारी रूप को दिखाने के लिए कृष्ण प्रेम के माध्यम से पतिव्रता की एकनिष्ठता एवं पवित्रता को स्थापित करते हैं। विडम्बना तो देखिए कृष्ण की मुरली के स्वर को सुनकर गोपियां, जिसमें नवयौवना, विवाहिताएं, कुमारियां, प्रौढ़ा और वृद्धा अपना विवेक बुद्धि खो बैठती हैं। अपने पति एवं घर को छोड़कर मुरलीधर के पास जाने के लिए आकुल हो उठती हैं, तब सवाल उठता है कि सामान्य स्त्री के प्रति असामान्य रवैया क्यों?

दरअसल कृष्ण भक्ति काव्य परंपरा में नारी दो रूपों में वर्णित है- सामान्य और विशेष। सामान्य की चर्चा एवं उससे संबंधित भक्तों के विचार को पीछे दिया जा चुका है। सामान्य नारी की मुक्ति पति की सेवा तथा उसकी अनुगामिनी बनकर रहने में ही संभव है। विशेष नारी वह है जो परमब्रह्म कृष्ण के साथ गोलोक में नित्य लीला में मग्न है। यह विशेष नारी सामाजिक-पारिवारिक बंधनों से मुक्त है, जो नित्य कृष्ण के साथ रास रचाती है। 'माधव राधा के रंग राचे, राधा माधव रंग रई' यहाँ राधा किसी व्यक्ति विशेष का नाम नहीं है, राधा विशेष नारी पात्र है। राधा-कृष्ण एक दूसरे में समा जाते हैं। प्रेम लीला में दोनों ही इतने कुशल हैं कि 'काम' को भी लजाना पड़ता है-

"दुल्हन, दूल्हा श्यामा श्याम

---

[27] पूनम कुमारी, मध्यकालीन हिंदी काव्य का स्त्री पक्ष (अनामिका पब्लिशर्स, दिल्ली, 2015), पृ.सं 60

[28] पूनम कुमारी, मध्यकालीन हिंदी काव्य का स्त्री पक्ष (अनामिका पब्लिशर्स, दिल्ली, 2015), पृ.सं 60

कोक कला व्युत्पन्न परस्पर, देखत लज्जित काम।"[29]

इस विशेष नारी पात्र के माध्यम से कवि, पातिव्रत्य की एकनिष्ठता और पवित्रता को स्थापित करते हैं, वहीं पुरुष वासना की संभावनाओं की भी बात कर रहे हैं। इसी कारण से बाद के कवियों ने अपनी रचनाओं में इसे खुलेआम व्यक्त किया। बाद में उत्तरमध्यकाल में राधा-कृष्ण के प्रेम के नाम पर पुरुष कवियों ने स्त्री-पुरुष के 'साहचर्य-सौंदर्य' एवं उनके नितांत निजी क्षणों एवं दृश्यों को बड़े ही कलात्मक ढंग से प्रस्तुत किया है।

मध्यकाल के संवेदनशील कवि तुलसीदास एक ओर जहाँ स्त्रियों की चिर पराधीनता से दु:खी हैं (कत विधि सृजी नारी जग माहीं। पराधीन सपनेहुं सुख नाहीं) तो वहीं दूसरी ओर स्वतंत्र नारी की तुलना महावृष्टि के कारण मर्यादाहीन बनी क्यारी से की है (महावृष्टि चलि कूटी कियारी, जिनि स्वतंत्र भए बिगरहिं नारी)। इससे इतना तो साफ है कि संवेदनशील तुलसी के यहाँ भी नारी विषयक दृष्टिकोण पितृसत्तात्मक मूल्यों से ही संचालित है। सूफी काव्य में एक ओर नारी दिव्य शक्ति अर्थात् परमात्मा की प्रतीक है तो वहीं दूसरी ओर उसे गोरखधंधा मानते हुए उससे बचने की सलाह भी दे डाली है। अलौकिक रूप में नारी जहां परम शक्ति, ज्योति, साधक की साधना, उपासना और भक्ति की पात्र है तो वहीं लौकिक रूप में वह पुरुष की प्रेयसी और पत्नी है। ये प्रेयसी व पत्नी (दिव्य रूप होने के बावजूद) पातिव्रत्य धर्म का पालन करने वाली हैं। वह स्त्री अत्यंत पूज्य और वंदनीय है जो पति की अनुगामिनी है। सूफी काव्य में भी सती की महिमा का गान है। उस्मान ने तो अपनी 'चित्रावली' में स्त्रियों को पैर की जूती तक कह दिया है-

''जैसे पनही पांव की वैसे तिया सुमाउ

पुरुष पन्थ चलि आपनै, पनही तजै न पाउ।''[30]

मध्यकाल के पुरुष रचनाकारों ने पितृसत्ता को मजबूत करने के लिए स्त्रियों के पातिव्रत्य, सतीत्व, एकनिष्ठता, पवित्रता पर जोर दिया और स्त्री की कामेच्छा पर नियंत्रण कर उसे 'आध्यात्मिक

[29] कुमकुम संगारी, मीराबाई और भक्ति की आध्यात्मिक अर्थनीति (वाणी प्रकाशन, दिल्ली, 2015),पृ.सं 108

[30] पूनम कुमारी, मध्यकालीन हिंदी काव्य का स्त्री पक्ष (अनामिका पब्लिशर्स, दिल्ली, 2015), पृ.सं 57

सुसाइड' की ओर धकेला। सामाजिक आचार-विचार, मर्यादा के नाम पर स्त्रियों की ऐहिकता, आदिम-आकांक्षा का दमन किया गया। इस प्रकार का दमन पुरुषों पर लागू नहीं होता था। इसी कारण उत्तरमध्यकाल के पुरुष रचनाकारों ने स्त्री-देह, रति क्रीड़ा एवं स्त्री के नग्न सौंदर्य को अपनी रचना का विषय बनाया। उत्तरमध्यकालीन पुरुष रचनाकारों का मन सुंदरी के रूप वर्णन में खूब रमा है। मतिराम का एक सवैया देखिए-

"कुंदन को रंगु फीको लगै झलकै अति अंगन चारू गुराई।
आंखिन में अलसानि चितौन में मंजु बिलासन की सरसाई।
को बिन मोल बिकात नहीं मतिराम लहैं मुसकानि मिठाई।
ज्यों ज्यों निहारिए नेरे हवै नैननि त्यों त्यों खरी निकरै सी निकाई।।"[31]

अब यहां अभिसार के लिए जाती स्त्रियाँ रंडी, वेश्या, कुलटा, डाकिनी आदि नहीं है। वह अंधेरी रात में ही नहीं चांदनी रात व दिन में भी अपने प्रिय से मिलने जा सकती है। मतिराम के यहां एक ऐसी युवती का चित्र देखिए, जो सांझ से ही सजकर अपने प्रिय से मिलने के लिए जाती है। उसकी बनक आनंददायक बेलि जैसी है, उसकी किंकिणी ध्वनि कर रही है। उसकी चाल मंद है, जैसे गजेंद्र की। उसका अंचल केसरिया वर्ण का है और उसकी हंसी से सफेद फूल झड़ रहे हैं। बाल भी फूलों से शोभित है। उन फूलों के पीछे काले भौंरे टूट रहे हैं और उसके आगे-आगे उसके मुख चंद की उजियाली फैलती जाती है-

"सांझि ही सिंगार साजि प्रान प्यारे पास जाति
बनिता बनिक बनी बेलि-सी अनंद की।
कवि मतिराम कलकिंकनी की धुनि बाजै
मंद मंद चलाने बिराजति गयंद की।
केसरि रंग्यो दुकूल हॉसी में झरति फूल
केसनि में छाई छबि फूलन के बृंद की।
पीछे पीछे आवति अंधेरी-सी भंवरभीर

[31] रामचंद्र शुक्ल, हिंदी साहित्य का इतिहास (विश्वविधालय प्रकाशन, वाराणसी, 2013), पृ.सं 164

आगे आगे फैलति उजारी मुखचंद की।।"[32]

उत्तरमध्यकाल के कवियों ने नारी सौंदर्य का दिग्दर्शन कराया है। अक्सर आलोचकों ने सौंदर्य के इन पदों में नग्नता और ऐहिकता देखा है, लेकिन इसे सौंदर्य के काव्य के रूप में कभी नहीं देखा। बिहारी के कुछ दोहों को देखते हैं -

1. "कच समेटि कर, भुज उलटि, खए सीस पर डारि।
काको मन बांधै न यह जूरो बांधनिहारि।।

2. अहे दहेंड़ी जिनि धरै, जिनि तू लोहि उतारि।
नीके है छींके छुए, ऐसी ही रहि नारि।।

3. बिहंसति सकुचति सी हिए, कुच आंचर बिच बाहिं।
भीजे पट तट को चली, न्हाय सरोवर माहिं।।

4. नासा मोरि, नचाय दृग, करी कका की सौंह।
कांटे सी कसकति हिए, वहै कटीली भौंह।।"[33]

पहले दोहे में एक युवती हाथों से बालों को समेटकर, भुजाओं को उलटकर सिर का वस्त्र कंधे पर डाल जूड़ा बांध रही है जिससे देखने वाले का मन बंधा जा रहा है। दूसरे दोहे में एक युवती छींके पर उचक कर हाथ ले जा रही जिससे उसका शारीरिक सौष्ठव संपूर्णता के साथ दिखता है जो रसिक समाज को सौंदर्य से आप्लावित करता है। तीसरे दोहे में सरोवर में स्नान करने के बाद एक युवती अपने उरोजों और आंचल के बीच अपनी बांहे डालकर भींगे वस्त्रों में हँसती हुई और मन में कुछ सकुचाती हुई किनारे की तरफ आती है। अंतिम दोहे में एक ग्रामीण युवती नासिका मोड़कर, आँखें नचाकर काका की शपथ खाती है, जिसमें उसकी भौंहे कटीली हो जाती है। इस कटीली भौंह का सौंदर्य एक सौंदर्यापासक कवि ही देख सकता है। इन्होंने अपने दोहों में ग्रामीण स्त्री के प्राकृतिक सौंदर्य को दिखाया है। कवि की नजर स्त्री के जूड़ा बांधने से लेकर कटीले भौंह पर है। सरोवर से स्नान कर गीले वस्त्रों में सकुचाती हुई स्त्री के

[32] नंदकिशोर नवल, रीतिकाव्य (राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, 2013), पृ.सं 20
[33] नंदकिशोर नवल, रीतिकाव्य (राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, 2013), पृ.सं 38

सौंदर्य का वर्णन कवि ही कर सकता है। इनकी रचनाओं में शृंगार एवं सौंदर्य का प्रगाढ़ संबंध है। यह ठीक है कि उत्तरमध्यकालीन कवियों ने स्त्रियों के नग्न सौंदर्य का वर्णन किया है, स्त्री के संपूर्ण शारीरिक सौंदर्य को देखने की कोशिश की है। 'देव' के यहां इस तरह का वर्णन देखिए -

"आई हुती अन्हवावन नाइनि सौंधो लिए कर सूधे सुमायनि।
कंचुकी छोरी उतै उबटैवे कों ईंगुर-से अंग की सुखदायिनि।।
देव सरूप को राग निहारति पांय तैं सीस लौं सीस तैं पायनि।
है रही ठौर ही ठाड़ी ठगी सी हँसै कर ठोड़ी धरे ठकुरायनि।।"[34]

एक नाइन ऊँचे घराने की एक वधू को स्नान कराने आती है। उसके साथ सुगंधित द्रव्य है जो बाल धोने के काम आता है। साथ-साथ लाल रंग का एक अन्य द्रव्य भी है, जिसकी बिंदी सौभाग्यवती हिंदू स्त्रियाँ लगाती हैं। वह नाइन युवती के लालाभ अंगों में उबटन लगाने के लिए उसकी कंचुकी उतरवाती है। अब वह युवती पूर्णत: नग्न है। नाइन उसके शरीर की स्वाभाविक ललाई को पाँव से सिर तक और सिर से पाँव तक चकित होकर देखती रहती है। वह वहीं पर ठगी-सी खड़ी रहती है और उसकी ठुड्डी पकड़कर आनंद और विस्मय के मारे हंस उठती है। युवती के नग्न रूप का वर्णन होने मात्र से वर्णन अश्लील नहीं हो जाता। यह हमारे भीतर के सौंदर्यबोध को तीव्र करता है, उसमें कामोत्तेजना नहीं जगाता। वैसे भी देव ने युवती के अंग-प्रत्यंग वर्णन में विशेष रुचि नहीं ली है, सिर्फ कौशलपूर्ण संकेत के माध्यम से सब कुछ सूचित किया है। किसी चित्रण को श्लील-अश्लील उसकी प्रस्तुति का ढंग बनाता है ना कि नग्न शारीरिक सौंदर्य का वर्णन। उत्तरमध्यकालीन पुरुष कवियों ने स्त्रियों के सौंदर्य को संपूर्णता में देखा है, उन्होंने बस शुचिता और पातिव्रत्य में ही सौंदर्य नहीं देखा। उत्तरमध्यकालीन कवियों ने पातिव्रत्य धर्म को स्थापित करने का कोई विशेष प्रयास नहीं किया। हम कह सकते हैं कि इन कवियों ने अपनी रचनाओं में बहुत हद तक स्त्रियों को मुक्त किया। हाँ ये बात ठीक है कि इस तरह की रचनाएँ सामंती परिवेश में हुई लेकिन हम पूरी जिम्मेवारी के साथ यह नहीं कह सकते कि इस प्रकार की रचनाएँ

[34] नंदकिशोर नवल, रीतिकाव्य (राजकमल प्रकाशन, दिल्ली,), पृ.सं 50

सामंती परिवेश का ही प्रतिफलन है क्योंकि भारतीय समाज में यह परिवेश सोलहवीं-सत्रहवीं शताब्दी में ही प्रथम बार नहीं दिखता है। दरअसल मध्यकाल में नारी-सौंदर्य वर्णन में शृंगारिकता के बढ़ते दवाब ने उत्तरमध्यकाल की दिशा को तय किया। सूरदास जब राधा एवं गोपिकाओं के वर्णन में शृंगार के गीत रच रहे थे, जायसी पद्मावती के सौंदर्य वर्णन में शृंगारिकता को ठूस-ठूस कर भर रहे थे, तब उत्तरमध्यकालीन कवि स्त्री के प्राकृतिक सौंदर्य की ओर आँख गड़ाए बैठा था। मूर्तिकला एवं चित्रकला के चरमोत्कर्ष ने उत्प्रेरक का काम किया। यूरोप से आई हुई स्त्रियों की मूर्ति एवं नृविज्ञान की शुरूआत ने भी इस ओर रचनाकारों का ध्यान आकर्षित किया।

रचनाकार सिर्फ काव्य रूढ़ि का ही निर्वहन नहीं कर रहे थे वरन् उस सौंदर्य की तलाश भी कर रहे थे जो सहृदय समुदाय को आह्लादित करें। बिहारी के एक दोहे को देखते हैं -

"कुंजभवन तजि भवन को, चलिए नंदकिसोर।
फूलति कली गुलाब की, चटकाहट चहुंओर।।"[35]

रीतिकाव्य की इस काव्य-रूढ़ि का प्रयोग बिहारी से लेकर पद्माकर ने किया है कि युवक किसी दूसरी युवती के साथ रात कहीं बाहर बिताता है। इस दोहे में कृष्ण ने किसी गोपिका के साथ कुंज भवन में रात बिताई है। जब सवेरा होता है तो उन्हें जगाकर युवती कहती है कि अब भवन की ओर प्रयाण कीजिए क्योंकि गुलाब की कलियाँ फूलने लगी हैं और उनके चटकने का शोर चारों ओर होने लगा है। इस तरह के ध्वनि बिम्ब का प्रयोग सहृदय जनों को आह्लादित कर देता है। यहां महत्वपूर्ण रात में बिताया हुआ क्षण नहीं है, महत्वपूर्ण है- 'चटकाहट चहुंओर' का मोहक वर्णन।

उत्तरमध्यकाल की आलोचना अक्सर इस कारण से होती है कि नायक अपनी अतृप्त कामवासना को तृप्त करने के लिए घात लगाए बैठा है। वह नायिका पर नजर गड़ाए हुए है, यमुना तट, कुंजभवन, कूल, कछार, खेत आदि जहाँ भी संभव हो, मौके की तलाश में है। इस संदर्भ में मतिराम का एक दोहा देखा जाना चाहिए -

---

[35] नंदकिशोर नवल, रीतिकाव्य (राजकमल प्रकाशन, दिल्ली,), पृ.सं 36

“केलि कै रात अघाने नहीं दिन ही में लला पुनि घात लगाई।

‘प्यास लगी, कोउ पानी दै जाइयौ’ भीतर बैठि कै बात सुनाई।

जेठी पठाई गई दुलही, हँसि हेरि हरै मतिराम बुलाई।

कान्ह के बोल में कान न दीन्हीं, सुगेह की देहरी पै घरि आई।।”[36]

जब रात्रि की रति क्रीड़ा से कान्ह को तृप्ति नहीं मिली, तो उसने दिन में भी पानी मांगने के बहाने से नववधू को घर के अंदर बुलाने की जुगत भिड़ाई। इस बात को उसकी भाभी ताड़ गई। उसने नववधू को संकेत से यह बता दिया कि देहरी पर ही पानी रखकर चली आओ। नववधू ने वैसा ही किया और युवक उसे भीतर बुलाता रहा, पर उसने उसकी बातों पर कोई ध्यान नहीं दिया। इस छंद में कवि का ध्यान या सहृदय समाज का ध्यान नायक की अतृप्त कामवासना पर न होकर चतुराई भरे वातावरण के हास्य-विनोद पर है, जो अत्यंत मोहक है। इस छंद में नायक की तलफलाहट ना ही कबीर की नायिका की तरह है(तुम धीरज मैं आतुर स्वामी) और ना ही सूरदास के राधा-कृष्ण का कोक-कला ही दिखता है (कोक-कला व्युत्पन्न परस्पर, देखत लज्जित काम)। कहने का आशय यह है कि मतिराम और अन्य पुरुष रचनाकारों ने स्त्री-पुरुष के ‘साहचर्य-सौंदर्य’ को दिखाया है। काव्य-रचना के लिए ये रचनाकार शब्द या भाषा पर निर्भर करते हैं, वर्ण्य विषय की ऐंद्रिकता पर नहीं। इस कारण उन्होंने भाषा से कई बार छेड़-छाड़ भी की है (इसी छेड़-छाड़ को आचार्य शुक्ल ‘च्युत संस्कृति दोष’ कहते हैं)। वे भाषा के द्वारा ही मन में सौंदर्य का प्रकाश उत्पन्न करते हैं। नायिका के शरीर या अंग-विशेष को उपस्थित करना उनका लक्ष्य नहीं है, कविता में सौंदर्य सृष्टि ही उनका मूल लक्ष्य है।

यह ठीक है कि उत्तरमध्यकाल के पुरुष रचनाकारों ने स्त्री एवं स्त्री शरीर को काव्य के निर्माण में उपादान के रूप में लिया। स्त्री को वस्तु समझा, लेकिन उन्होंने स्त्री को देह-शुचिता से मुक्त किया, जिस शुचिता को मध्यकालीन भक्त कवियों ने पूरी गंभीरता के साथ स्थापित किया था। अब स्त्रियाँ पुरुषों के

---

[36] रामचंद्र शुक्ल, हिंदी साहित्य का इतिहास (विश्वविधालय प्रकाशन, वाराणसी, 2013), पृ.सं 164

परस्त्री गमन पर व्यंग्य करती हैं। पहली बार उत्तरमध्यकाल में स्त्रियाँ अपने पति के परस्त्री गमन पर व्यंग्य करती हुई दिखती हैं। 'देव' का छंद देखिए-

"भोर भयो मनभावन आए औ प्यारी तिन्हें लखि कैं दृग फेरे।
सीधे सुभाइन लाल कही कहु काहेक लाल बिलोचन तेरे।।
बोलि उठी तिय मान भरी औ गुमान भरे करि नैन तरेरे।
काहू के रंग रंगे हग रावरे, रावरे रंग रंगे दृग मेरे।।"[37]

भोर होने पर युवती का पति आया। उसके लिए यहाँ 'मनभावन' शब्द की व्यंजना देखिए। युवती उसे देखकर अपनी आँखें फेर लेती है। फिर युवक ने सहज भाव से उससे पूछा - तुम्हारी आँखें लाल क्यों हैं? जाहिर है कि प्रतीक्षा में रात-भर जगने, नींद नहीं आने के कारण उसकी आँखें लाल हो रही हैं। मान-भरी युवती अपनी गुमान-भरी आँखें तरेरती हुई बोली - आपकी आँखें तो किसी और के रंग में रंगी हुई है और मेरी आँखें आपके रंग में (क्योंकि वे भी लाल थीं) 'देव' का दूसरा छंद भी देखिए-

"देव जू पै चित चाहिए नाह तौ नेह निवाहिए देह मरयौ परै।
त्यौं समुझाय सुझाइयै राह अमारग जो पग धोखे धरयो परै।।
नीके में फीके हूँ आँसू भरौ कत ऊँची उसाँस गरौ क्यों भरयौं परै।
रावरै रूप पियौ अँखियान भरयौ जु भरयौ उबरयौं सो ढरयों परै।"[38]

यहाँ भी युवक अन्यत्र रात बिताकर आया है। वह अपराधबोध से ग्रसित है। युवती उस पर ऐसा प्रहार करती है जो ऊपर से दिखलाई नहीं पड़ता है। इसी तरह का प्रहार औपनिवेशिक भारत में स्त्री रचनाकारों ने पुरुष सत्ता के खिलाफ किया। सीमंतनी उपदेश में एक अज्ञात हिंदू औरत के तेवर को हम द्वितीय अध्याय में देख चुके हैं। युवती कहती है, मेरा तो यह सिद्धांत है कि पति का प्रेम अपेक्षित हो, तो मरणोपरांत भी उसके प्रति प्रेम का निर्वाह करना चाहिए। यदि वह धोखे-से कुमार्ग पर पाँव बढ़ाता है तो उसे समझाने-बुझाने से काम लेना चाहिए। पति थोड़ा संतुष्ट होकर उससे पूछता है कि फिर तुम्हारी मुख-

[37] नंदकिशोर नवल, रीतिकाव्य (राजकमल प्रकाशन, दिल्ली,), पृ.सं 57
[38] नंदकिशोर नवल, रीतिकाव्य (राजकमल प्रकाशन, दिल्ली,), पृ.सं 58

कांति फीकी क्यों है, तुम्हारी आँखों में आँसू क्यों है, तुम ऊँची उसाँस क्यों ले रही हो और तुम्हारा गला क्यों भर्राया हुआ है? युवती उत्तर देती है- आज आपकी छवि में इतना माधुर्य दिखलाई पड़ रहा है कि मेरी आँखें पीते-पौ भर गई हैं और जो न पिया जा सका, वह उनसे ढ़रककर बाहर आ गया। - एक बंद समाज में युवती द्वारा इस तरह के व्यंग्य बाण छोड़ना उस संक्रमण काल की ओर इशारा कर रहा है जो बदलाव की ओर अग्रसर है।

स्त्री रचनाकारों का निजी संसार

"प्राय: यह सवाल उठाया जाता है कि ऐसा क्या है, जिसे महिलाएँ ही लिख सकती हैं? यह सच है कि रचनाकार देहान्तरण करता है, परंतु फिर भी स्वयं भोगे हुए यथार्थ की एक निजी लय होती है।''[39] पुरुषों द्वारा बनाई गई समाज व्यवस्था में स्त्रियों का संसार निविड़ अकेलेपन का संसार है। नारी-जीवन के एकाकी क्षण की अभिव्यक्ति स्त्री-स्वर में होती रहती है। स्त्रियों के ही कंठ से सर्वप्रथम फूटा होगा दर्द भरा गीत। सभ्यता की शुरूआत में नक्काशी और चित्रकला का ईजाद निविड़ अकेलेपन में स्त्रियों ने ही किया होगा। लोकगीतों, लोक कलाओं के एकांत कोने में स्त्रियों के निजी जीवन के क्षण मौजूद रहते हैं। शिष्ट अभिजात्य साहित्य परंपरा से संबंधित संगम-साहित्य की स्त्री रचनाकारों के ध्यान में बोझ ढोती, धान ओसाती, नदी से पानी लाती स्त्रियाँ हैं और उनके कंठ से फूटा हुआ स्वर है। डॉ. सुमन राजे ने ठीक ही कहा है- ''जहाँ पुरुष मौन हो जाता है वहाँ जन्म लेता है महिला लेखन। जो अंश खाली छूट गये हैं या छोड़ दिये गये हैं, उनके भराव में मिलता है महिला-लेखन। हाँ, वह भराव आधा खो गया है और आधा 'कण्ठ' में छूट गया है। आदि कवि वाल्मीकि की कविता का उत्स क्रौंच के करूण-क्रन्दन में माना जाता है, लेकिन उनसे भी कुछ पहलू अनछुए छूट गये हैं। कवीन्द्र रवीन्द्र ने उर्मिला की उपेक्षा पर तो कलम उठायी जिसके प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष प्रभाव से साकेत जैसा महाकाव्य अस्तित्व में आया। परंतु सीता के वेदना के एकांत क्षण वे भी नहीं देख सके। सीता का विरह तो काव्य की विषय-वस्तु बना परंतु 'करूण' को एकमात्र 'रस' मानने वाले भवभूति ने भी राम को निर्दोष साबित करने की कोशिश ही अधिक की है। सीता के मातृत्व की वेदना को गाँव देहात की सामान्य नारियों ने अनुभव ही नहीं की, उसे वाणी भी

---

[39] सुमन राजे, हिंदी साहित्य का आधा इतिहास (भारतीय ज्ञानपीठ, दिल्ली, 2015), पृ.सं 26

दी।''[40] जहाँ तुलसीदास का रामचरितमानस 'उत्तरकाण्ड' पर कोई बात ही नहीं करता वहीं महिला-लेखन सीता के साथ उस अंधेरी गुफा में खड़ा है जहाँ वह एकाकी अपनी पीड़ाओं को झेल रही है।

स्त्रियों के पास अनेक ऐसे क्षण होते हैं जिसे स्त्री को अकेले ही भोगना होता है। मातृत्व भी एक ऐसा ही क्षण होता है। मातृहृदय के उल्लास एवं वात्सल्यजन्य रागपूर्ण वातावरण की सजीव तथा चित्रमयी अभिव्यक्ति स्त्री रचनाकार के पास दिखायी पड़ती है। यह ठीक है कि वात्सल्य वर्णन में सूरदास का कोई सानी नहीं है लेकिन वात्सल्यजन्य रागपूर्ण वातावरण के सजीव चित्रण में 'गंगाबाई' सूर से कई कदम आगे हैं। परंपराओं तथा रीतियों के निर्वाह के प्रति स्त्रियाँ ही जागरूक रह सकती हैं, पुरुष नहीं। इसी कारण 'गंगाबाई' (विट्ठल गिरधरन) की रचनाओं में उल्लास एवं आनंद का सजीव चित्रण हुआ है,

"सब कोई नाचत करत बधाये।
नर नारी आपसु में ले ले हरद दही लपटाये।।
गावत गीत भांति भंतिन के अप अपने मन भाये।
काहू नहीं संभार रही तन प्रेम पुलकि सुख पाये।।
नन्द की रानी ने यह ढोटा भले नक्षत्रहि जाये।
श्री विट्ठल गिरधरन खिलौना हमरे भागन पाये।।"[41]

तो वहीं बीबी रत्न कुंवरि के यहाँ यशोदा का मातृत्व समय की दूरी चीरकर पुत्र से मिलने को आकुल हो उठता है-

"सुनतहिं यशुमति है गई बौरी। ता ग्वालहिं पूछत उठि दौरी।।
आये श्याम सतय कहु भैया। मोहिं दिखावहु नेक कन्हैया।।
निज लालन को कंठ लगाऊं। दुसह विरह को ताप नसाऊं।।
कह अब गहरु करत बेकाजहि। भेंटहु बेगि सकल ब्रजराजहिं।।"[42]

---

[40] सुमन राजे, हिंदी साहित्य का आधा इतिहास (भारतीय ज्ञानपीठ, दिल्ली, 2015), पृ.सं 30

[41] सं. जगदीश्वर चतुर्वेदी, सुधा सिंह, स्त्री-काव्यधारा (अनामिका पब्लिशर्स, दिल्ली, 2006), पृ.सं. 30

[42] सं. जगदीश्वर चतुर्वेदी, सुधा सिंह, स्त्री-काव्यधारा (अनामिका पब्लिशर्स, दिल्ली, 2006), पृ.सं. 95

मातृ हृदय के इस पक्ष को अंतरमतम में बैठकर एक माँ का हृदय ही उद्घाटित कर सकता है। पुत्र वियोग एवं पति वियोग को स्त्री ने करीब से देखा है। इस सामाजिक व्यवस्था में वियोग एवं विरह के सभी रूपों को स्त्रियाँ ही झेलती हैं। इसी कारण पुरुष रचनाकारों में विरह जहाँ काम की व्याकुलता के साथ आता है वहीं स्त्री रचनाकारों के यहाँ प्रिय की संपूर्ण अनुपस्थिति ही मिलनांकाक्षा को तीव्र करती है। कबीर पर बात करते हुए हम पीछे देख चुके हैं कि उनके पदों में- 'कामिन को है बालम प्यारा, ज्याँ प्यासे को नीर रे', 'नैन हमारे तुम को चाहें, रति न मानै हार' की प्रतिध्वनि सुनाई पड़ती है। कबीर के इन पदों के सामने अगर हम स्त्री रचनाकारों के पदों को रखें तो ये साफ जाहिर होता है कि इनके यहाँ काम की जगह प्रिय की संपूर्ण अनुपस्थिति ही विरह है। तदुपरांत यही अनुपिस्थति इनकी व्याकुलता का कारण है-

"पति-वियोग दुख भयो अपारा। हुआ सकल सूना संसारा।।
कछु न सुहाय नैन बह नीरा। पति बिन कौन बंधावे धीरा।।
विकल भयो तन बचन न आये। हरे राम! दुख कौन गिराये।।
असन बसन लागत दुखदाई। इक दिन एक बरस सम जाई।।"[43]

- प्रताप कुंवरि बाई।

यहाँ तक कि डिंगल काव्य की स्त्री रचनाकारों में भी इस भाव को देखा जा सकता है। झीमा चारणी कहती है- 'उमादे सखी तू धन्य है। आज तूने प्रियतम को क्रय कर लिया' सात लम्बे वर्षो का यह वियोग कैसे व्यतीत होता है। पति की अनुपस्थिति यहाँ भी दिखती है।

"धिन उमादे सांखली, तै पिय लियो मुलाय।
सात बरसरो बीछड्यो, तो किम रैन विहाय।।"[44]

कृष्ण काव्य-धारा की बाधेली विष्णु प्रसाद कुंवरि ने इसी भावभूमि पर आधारित गीतों की रचना की है-

[43] सं. जगदीश्वर चतुर्वेदी, सुधा सिंह, स्त्री-काव्यधारा (अनामिका पब्लिशर्स, दिल्ली, 2006), पृ.सं.59
[44] सं. जगदीश्वर चतुर्वेदी, सुधा सिंह, स्त्री-काव्यधारा (अनामिका पब्लिशर्स, दिल्ली, 2006), पृ.सं. 44

"नरमोही कैसे जिय तरसावै।

पहले झलक दिखाय हमै कूं अब क्यों वेग न आवै।।

कब सौं तलकत मैं ही सजनी वाको दरद न आवै।

विष्णु कुंवरि दिल में आकर के ऐसा पीर मिटावै।।"[45]

रूपवती बेगम का दुख बाज बहादुर की अनुपस्थिति है ना कि काम की व्याकुलता -

"रूपमती दुखिया भई, बिना बहादुर बाज।

सो अब जियरा तजत है,यहां नहीं कछु काज।।"[46]

कबीर की परंपरा को बढ़ाने वाली संत कवयित्री दयाबाई भी परमात्मा से सशरीर मिलन का राग नहीं छेड़तीं, बस यह उस परमतत्व का दर्शन करना चाहती है। दयाबाई भी विरह व्यथा से विकल है लेकिन कबीर की तरह कामुकता की अकुलाहट उनके यहाँ नहीं दिखती।

"विरह विथा सूं हूं बिकल, दरसन-कारन पीव।

'दया' दया की लहर कर, वयों तलकावौ जीव।।"[47]

पुरुष रचनाकारों की 'स्त्री' काम को प्रेम की अनिवार्य शर्त मानती है। ये पुरुष रचनाकार काम को ही पति-पत्नी रूप में सामाजिक स्वीकृति का उपादान भी मानते हैं। इसी कारण स्त्री स्वर में कबीर कहते हैं-

"वै दिन कब आवेंगे माइ

जा करनि हम देह धरी है। मिलिबौ अंगि लगाइ

है जानू जे हिल मिलि खेलूं तनमन प्रान समाइ

या कामना करौ परपूरन, समरथ हौ राम राइ।।"[48]

---

[45] सं. जगदीश्वर चतुर्वेदी, सुधा सिंह, स्त्री-काव्यधारा (अनामिका पब्लिशर्स, दिल्ली, 2006), पृ.सं.73

[46]सं. जगदीश्वर चतुर्वेदी, सुधा सिंह, स्त्री-काव्यधारा (अनामिका पब्लिशर्स, दिल्ली, 2006), पृ.सं.106

[47] सं. जगदीश्वर चतुर्वेदी, सुधा सिंह, स्त्री-काव्यधारा (अनामिका पब्लिशर्स, दिल्ली, 2006), पृ.सं.54

[48] पूनम कुमारी, मध्यकालीन हिंदी काव्य का स्त्री पक्ष (अनामिका पब्लिशर्स, दिल्ली, 2015), पृ.सं 82

कबीर कहते हैं देह धारण अर्थात् शरीर की सार्थकता प्रियतम से सशरीर मिलने में ही है। जबकि स्त्री रचनाकारों के यहाँ प्रियतम के दर्शन मात्र से विरह व्यथा से विकल हृदय शांत हो जाता है। आज जब मीरा के पदों में आलोचकों द्वारा कामाभिव्यक्ति की विशेष रूप से तलाश की जा रही है तब मीरा के कुछ पदों को कबीर के समानांतर रख कर देखें तो बात और साफ होगी।

कबीर के यहाँ बाट जोहती स्त्री को देखिए -

"बहुत दिनन की जोवती, बाट तुम्हारी राम।
जिय तरसै तुझ मिलन को, मन नाही विक्षाम।।
बिरहिन ऊठै भी पड़े, दरसन काटनि राम।
मूवाँ पीछे देहुगे, सों दरसन किहि काम।।"[49]

मीरा के पदों को देखते हैं-

''म्हांरे घर आयो प्रीतम प्यारा।
तन मन धन सब भेंट करूंगी भजन करूंगी तुम्हारा।
वो गुणवंत सुसाहिब कहिए मोमैं औगुण सारा।।
मैं निगुणी गुण जानू नाहीं वे छो बगसण सारा।।
मीरा कहै प्रभु कबहिं मिलोगे तुम बिन नैण दुखारा।।"[50]

x x x x x x x

"प्रभु जी ये कहां गयो मेएड़ी लगाय।
छांड़ि गया बिसवास संगाती प्रेम की बात बताय।।
बिरह समुंद्र मैं छांड़ गया छो प्रेम की नाव चलाय।
मीरा कहै प्रभु कबै मिलौगे तुम बिन रह्यो न जाय।।"[51]

---

[49] पूनम कुमारी, मध्यकालीन हिंदी काव्य का स्त्री पक्ष (अनामिका पब्लिशर्स, दिल्ली, 2015), पृ.सं 83
[50] सं. जगदीश्वर चतुर्वेदी, सुधा सिंह, स्त्री-काव्यधारा (अनामिका पब्लिशर्स, दिल्ली, 2006), पृ.सं. 86
[51] सं. जगदीश्वर चतुर्वेदी, सुधा सिंह, स्त्री-काव्यधारा (अनामिका पब्लिशर्स, दिल्ली, 2006), पृ.सं. 87

उक्त पदों को अगर ठीक से देखा जाए तो स्पष्ट हो जाता है कि कबीर के पद में जहाँ काम की तृप्ति हेतु दर्शन की प्यास है (मूवां पीछे देहुगे, सों दरसन किहि काम) तो वहीं मीरा के पदों में प्रियतम के दर्शन का एक नैसर्गिक आनंद है। इन पदों में प्रेम और माधुर्यभाव की प्रधानता है। प्रेम और माधुर्यभाव स्त्री रचनाकारों में प्रमुखता से पाया जाता है। मनुष्य द्वारा प्रेम और प्रेम संबंधी किसी भी प्रकार का निर्णय बेहद ही निजी निर्णय होता है लेकिन हमारी समाज व्यवस्था में यह बात स्त्रियों पर अक्षरश: लागू नहीं होती। निजी मामला होने के बावजूद वास्तव में स्त्रियों का प्रेम पर निजी अधिकार नहीं होता है। यह अधिकार प्रेम का प्रत्युत्तर चाहने वाले पति या प्रेमी के लिए सुरक्षित होता है। इन अधिकारों के द्वारा ये पति व प्रेमी बहुपत्नीवादी वैवाहिक संस्था को नियंत्रित करता और मजबूत बनाता है, साथ ही स्त्रियों से पूर्ण समर्पण की गारंटी भी लेता है। यह गारंटी पितृसत्तात्मक मूल्य संरचना को बनाए और बचाए रखने के लिए बेहद जरूरी है।

हम पूर्व में देख चुके हैं कि समय के दबाव के कारण वैष्णव भक्ति परंपरा ने जाति व जेंडर से उठकर स्त्रियों को भक्त होने और आध्यात्मिक प्रेम करने की छूट दी। स्त्रियों ने इस आध्यात्मिक छूट को लौकिक जगत में भुनाया और समय-समय पर आध्यात्मिक ढांचे में रहकर पितृसत्ता के खिलाफ अपना विरोध दर्ज किया। कृष्णभक्ति स्त्रियों के लिए वैवाहिक निष्ठा समेत सभी मान्यताओं के अतिक्रमण का जरिया बन गयी। एक ओर जहाँ ग्वाला, चरवाहा प्रेमी के रूप में कृष्ण सामाजिक व्यवस्था के पालन में कोई रुचि नहीं लेता, वह प्रेम के मुक्त आदान-प्रदान तथा सामाजिक स्वामित्व की अवज्ञा से जुड़ा है - एक ‘दुष्ट’ चरवाहा प्रेमी बनकर। वह वृंदावन के गोपियों के साथ ग्राम्य किलोलों के रूप में निर्लज्ज भोग मांगता और पाता है, कभी-कभी स्वयं भी प्रेम लुटाता है तो वहीं दूसरी ओर सोलह हजार एक सौ रानियों व आठ पटरानियों के पति राजपुरुष कृष्ण पातिव्रत्य के परंपरागत प्रतिनिधि के रूप में दिखते हैं - आठों पटरानियाँ उनकी मृत्यु के बाद सती हो जाती है। कृष्ण के दोनों रूप (ग्वाला और राजपुरुष) पति एवं प्रेमी के रूप विन्यास में इतने घुले मिले हुए हैं कि स्त्री रचनाकार इसे प्राय: अलग नहीं कर पाती हैं। उनकी चेतना पर पितृसत्तात्मक विश्व दृष्टि कोण का मुलम्मा चढ़ा हुआ था। इस कारण तमाम आशाओं एवं

आकांक्षाओं के बावजूद विभेद ना कर पाने के कारण सामाजिक एवं पितृसत्तात्मक दासता की ही भाषा में बोलने लगती थी।

"पति समान नहिं दूजा देवा। तातें पति की कीजै सेवा।।
पति परमातम एक समाना। गावें सब ही वेद पुराना।।
धर्म अनेक कहे जग माहीं। तिय के पतिव्रत सम कछु नाहीं।।
ताते मैं पति सम समझाई। पति सुमूर्ति हिरदै पधराई।।"[52]

प्रताप कुंवरि बाई ने धर्मतंत्र की सत्ता को स्वीकारते हुए पातिव्रत्य धर्म को उसी तरह महिमा मंडित किया है, जिस तरह पुरुष रचनाकार किया करते थे। उपेक्षा का दंश झेलती 'रत्नावली' प्रिय के आगमन के विविध स्वप्न देखती हुई जीवित रहती है और पुरुष सत्ता से सभी तरह के समझौते करने को तैयार है-

"नाथ ! रहौंगी मौन हो धारहु पिय जिय तोस।
कबहूँ न दऊँ उराहनो, दऊँ न कबहूँ दोष।।"[53]

इसी तरह का समझौतावादी रूख तमाम स्त्री रचनाकारों ने अपनाया था। पितृसत्तात्मक समाज व्यवस्था में अपने को फिट करने के लिए स्त्री रचनाकारों ने एक विशेष तरह की 'मनोसामाजिकी' का सहारा लिया जिससे ये स्त्री रचनाकार अपनी बात रख सकती थी, अपनी रचनात्मक उपस्थिति दर्ज कर सकती थी। इन रचनाकारों ने गुलामी के प्रतीक या उपमाओं को अपनी रचनाओं में विशेष साहित्यिक बिम्ब की तरह प्रयोग किया।

"ठग पापी कपटी कुटिल, ये लच्छन मोहि माहिं।
जैसे तैसी तोरिही, अरू काहू को नाहिं।।"[54]

x x x x x x x

"निरपक्षी के पच्छ तुम, निराधार आधार।

---

[52] सं. जगदीश्वर चतुर्वेदी, सुधा सिंह, स्त्री-काव्यधारा (अनामिका पब्लिशर्स, दिल्ली, 2006), पृ.सं. 58
[53] डॉ. सावित्री सिन्हा, मध्यकालीन हिन्दी कवयित्रियाँ (आत्माराम एण्ड सन्स, दिल्ली, 1953), पृ.सं. 281
[54] सं. जगदीश्वर चतुर्वेदी, सुधा सिंह, स्त्री-काव्यधारा (अनामिका पब्लिशर्स, दिल्ली, 2006), पृ.सं. 55

मेरे तुमही नाथ इक, जीवन-प्रान अधार।।"[55]

- दयाबाई।

यथा

"मो सों ही न कोई पातकी तुम सो तो अधिक उदार।"[56]

- अलबेलि अली।

यह ठीक है कि गुलामी के ये साहित्यिक बिम्ब सामंती स्तरीकृत समाज को सुदृढ़ करते हैं लेकिन ''उसकी (स्त्री रचनाकार) स्वैच्छिक गुलामी एक परिवर्तित निजी आचरण के लिए जमीन तैयार करती है। पितृसत्ता के प्रति पारंपरिक समर्पण को अपना माध्यम बनाते हुए भी उसकी सीमा के बाहर खड़ी रहने वाली भाषा कई नये महत्व के मुद्दे व एक रचनात्मकता अराजकता उत्पन्न करने में सक्षम है और नयी विरोधाभासी जमीन पैदा करती है।''[57] इसी विरोधाभासी जमीन पर बैठी ये स्त्री रचनाकार उस सामंती संरचना में सेंध लगाने का प्रयास करती है-

"छोड़ि कुल कानि और आनि गुरू लोगन की,
जीवन सु एक निज जाति हित मानी है।"[58]

- बाधेली विष्णु प्रसाद कुंवरि

मीरा की तरह 'कुल-कानि' छोड़ने का तेवर उत्तरमध्यकालीन स्त्री रचनाकारों में साफ देखा जा सकता है। 'ताज' ने उस बंद सामंती समाज में जो राग छेड़ा वो काबिले गौर है।

सुनो दिल जानी मेरे दिल की कहानी तुम,
दस्त ही बिकानी बदनामी भी सहूंगी मैं।।
देव पूजा ठानी हौं निवाज हूँ भुलानी तजे,
कलमा कुरान सारे गुनन गहूंगी मैं।।

[55]सं. जगदीश्वर चतुर्वेदी, सुधा सिंह, स्त्री-काव्यधारा (अनामिका पब्लिशर्स, दिल्ली, 2006), पृ.सं. 54
[56] सं. जगदीश्वर चतुर्वेदी, सुधा सिंह, स्त्री-काव्यधारा (अनामिका पब्लिशर्स, दिल्ली, 2006), पृ.सं. 23
[57] कुमकुम संगारी, मीराबाई और भक्ति की आध्यात्मिक अर्थनीति (वाणी प्रकाशन, दिल्ली, 2015),पृ.सं 77
[58] सं. जगदीश्वर चतुर्वेदी, सुधा सिंह, स्त्री-काव्यधारा (अनामिका पब्लिशर्स, दिल्ली, 2006), पृ.सं. 76

श्यामला सलोना सिरताज सिर कुल्ले दिये,

तेरे नेह दाग में निदाग ही रहूंगी मैं।।

नन्द के कुमार कुरबान ताणी सुरत पै,

हूँ तो तुरकानी हिन्दुआनी हो रहूंगी मैं।।"[59]

इस तरह का खुला विरोध स्त्री रचनाकारों के स्वर में देखा जाता है। इनके यहाँ जहाँ विरोध एवं विद्रोह का अपना स्वर है तो वहीं इनकी माधुर्य भाव गीतों में घनीभूत भावात्मक निवेश है जो पुरुष रचनाकारों में नहीं दिखता है। घनानंद जैसे विरले रचनाकार में यह भाव मौजूद है लेकिन माधुर्य भाव की प्रबल अभिव्यक्ति में स्त्री रचनाकार पुरुषों से कोसों आगे हैं। 'वीरां' के गीत को इस संदर्भ में देखा जा सकता है-

"बस रहि मेरे प्राण मुरलिया बस रहि मेरे प्राण।

या मुरली ने काह न धोल्यो उन ब्रजवासिन कान।।"[60]

x x x x x x x

"प्रीति लगाय जिन जाय रे सांवरिया, प्रीत लगाय जिन जाय रे।

प्रीतम को पतिया लिख पठाउं रुचि रुचि लिखी बनाय रे।।"[61]

'वीरां' के गीतों की गतिकी, उसकी मौसकी सुनने वाले के हृदय तंत्र को झंकृत ही नहीं करती वरन् अपने रागात्मक प्रवाह में बहा ले जाती है। माधुर्य भावना का प्रबल आवेग स्त्री रचनाकारों के स्वर में दिखता है। बाधेली विष्णु प्रसाद कुंवरि के पदों को हम उदाहरणस्वरूप देखते हैं -

"अब मत जाओ प्राण पियारे!

तुम्हें देख मन भयो उमंग में मेरो चित्त चुरायो रे।।

कहा कहूँ या छवि बलिहारी नैनन में ठहरायो रे।

[59] सं. जगदीश्वर चतुर्वेदी, सुधा सिंह, स्त्री-काव्यधारा (अनामिका पब्लिशर्स, दिल्ली, 2006), पृ.सं. 46

[60] सं. जगदीश्वर चतुर्वेदी, सुधा सिंह, स्त्री-काव्यधारा (अनामिका पब्लिशर्स, दिल्ली, 2006), पृ.सं. 107

[61] सं. जगदीश्वर चतुर्वेदी, सुधा सिंह, स्त्री-काव्यधारा (अनामिका पब्लिशर्स, दिल्ली, 2006), पृ.सं. 107

विष्णु कुंवरि पकड़ि चरनन की बरबस ह्रदय लगायो रे।।"[62]

पुरुष स्वरों में यह भावात्मक आवेग उतनी तीव्रता के साथ मौजूद नहीं होता क्योंकि आध्यात्मिक क्षणों में देहान्तरण के बावजूद पुरुष का पुंसत्व उसमें मौजूद होता है। बहुविवाही पुरुष का भावनात्मक निवेश एक ही पात्र में घनीभूत नहीं हो सकता। लेकिन इस समाज व्यवस्था में स्त्रियाँ भावनात्मक रूप से एकविवाही ही होती हैं। इस कारण स्त्री स्वर में एक विशेष ऊर्जा होती है।

[62] सं. जगदीश्वर चतुर्वेदी, सुधा सिंह, स्त्री-काव्यधारा (अनामिका पब्लिशर्स, दिल्ली, 2006), पृ.सं. 75

उपसंहार

उत्तरमध्यकाल राजनैतिक रूप से शक्ति एवं सत्ता के विकेंद्रीकरण का काल था। इस काल में केन्द्रीय सत्ता और क्षेत्रीय कुलीनों के बीच समझौते और तालमेल की प्रक्रिया निरंतर बदल रही थी। यह सम्पूर्ण प्रक्रिया व्यापारिक पूँजी और वणिकवादी वर्चस्व से संचालित थीं। इस काल में समृद्ध अधिशेष और संसाधनों वाले बड़े क्षेत्रों ने अंग्रेज व्यापारी, जगत सेठ के बैंकिंग घरानों एवं जमींदारों से सांठ-गांठ कर केंद्रीय सत्ता से अपनी निष्ठा तोड़ ली और अपना स्वतंत्र राज्य स्थापित किया। इस काल विशेष में कुलीनों की निष्ठा में आई कमी देखी जा सकती है। इन दिनों शाही दरबार में जोड़-तोड़ अपनी चरम सीमा पर था। यह सम्पूर्ण युग राजनैतिक उतार-चढ़ाव का युग था तो वहीं सांस्कृतिक रूप से यह काल मौन सांस्कृतिक निस्पंदन का काल है जिसका प्रभाव हरबंस मुखिया २१वीं सदी के भारत में भी देखते हैं।

साहित्येतिहास में इस काल को दरबारी कविता, श्रृंगार, भोग विलास और रसरंग का काल माना जाता है। चूँकि साहित्य मानव समाज की भावात्मक स्थिति और गतिशील चेतना की अभिव्यक्ति है, इस कारण इस समय के साहित्य और कविता पर राजनैतिक, सामाजिक, और सांस्कृतिक स्थिति का प्रभाव पड़ा है। इस प्रभाव के कारण हिंदी की साहित्यिक आलोचना में उत्तरमध्यकालीन कविता को हमेशा संशय भरी दृष्टि से देखा जाता है और इस समय के सम्पूर्ण साहित्य को भोग-विलास एवं दरबारी मनोवृति को तुष्ट करने वाला रसरंग का साहित्य माना जाता है। यह सच है कि उत्तरमध्यकालीन साहित्य सामाजिक यथार्थ एवं जनभावनाओं से उस तरह नहीं जुड़ता है जिस तरह पूर्वमध्यकाल का साहित्य जुड़ा हुआ है, लेकिन इसका मतलब यह नहीं है कि इस समय के साहित्य को नीतिभ्रष्ट साहित्य के अंतर्गत रखा जाए। इस साहित्य में सामंती आग्रह जरुर है लेकिन राजनैतिक उठा-पटक का भी खूब चित्रण हुआ है। केशवदास, पद्माकर आदि ने अपने आश्रयदाता के बहाने अपने समय की राजनीति को दिखाने की

कोशिश है; स्त्री रचनाकार 'सांई' के पदों में उत्तरमध्यकाल की विडंबना को देखा जा सकता है। काव्य-प्रयोजनों के बदलने की पीड़ा भी इनकी रचनाओं में साफ देखी जा सकती है, बस जरुरत है पूर्वाग्रह से मुक्त होकर इस दिशा में सोचने की। हिंदी आलोचना ने उत्तरमध्यकाल के साहित्य को आदर्शवाद एवं शुद्धतावाद के आवरण में रहकर देखा है।आलोचकों ने सम्पूर्ण उत्तरमध्यकालीन साहित्य की आलोचना भक्तिकालीन साहित्य को सामने रखकर किया है किन्तु मुझे लगता है कि भक्तिकालीन प्रतिमानों को ध्यान में रखकर रीतिकालीन साहित्य की आलोचना तर्कसंगत नहीं है।

उत्तरमध्यकाल में कविता मंदिरों और मठों से निकलकर दरबार में आती है। इस समय सभी कलाओं का विकास दरबार में देखा जा सकता है। सुरुचि-संपन्न दरबार एवं दरबारियों ने कलाकार और उनकी कलाओं के मूल्य को समझा। दरबार में कविता जीवन का उद्दाम राग पा रही थी। मंदिरों और मठों में मोक्ष तो है लेकिन मनुष्य की आदिम आकांक्षा के लिए कोई जगह नहीं है। यहाँ मनुष्य की आदिमता को दबा कर उसे आध्यात्मिक आत्महनन की ओर मोड़ा जाता है, जिसकी त्वरा को सम्पूर्ण भक्तिकाल के दौरान महसूस किया जा सकता है।

मध्यकाल में पहली बार भक्ति के क्षेत्र में स्त्री को आध्यात्मिक मुक्ति की छूट मिली। इसके पीछे गतिशील सामाजिक और सांस्कृतिक दबाव काम कर रहा था। जिस कारण उत्तरमध्यकालीन साहित्यिक परिदृश्य में कई स्त्री रचनाकार हमें देखने को मिलती हैं। कुछ स्त्री रचनाकार पुरुष-रचनाकारों से कहीं भी कमतर नहीं हैं, कई जगहों पर ये पुरुष-रचनाकारों से आगे भी हैं। इनके पदों में घनीभूत भावात्मक निवेश दिखता है जो पुरुष रचनाकारों के यहाँ प्रायः नहीं दिखता है। फिर भी हिंदी साहित्य के इतिहास में स्त्री रचनाकार उपेक्षिता ही रहीं। उत्तरमध्यकाल पर लिखते हुए जब कई इतिहासकार 'कवि-वृत्त-संग्रह' तैयार कर रहे थे तब यह देखकर हैरानी होती है कि स्त्री रचनाकार का ज़िक्र न के बराबर था। जब पुरुष आलोचक

कबीर और अन्य संतों के यहाँ स्त्री-स्वर की पड़ताल कर रहे होते हैं तब स्त्रियों के साथ उपेक्षिता जैसा व्यवहार हिंदी आलोचना में पुरुषों के अतिक्रमणकारी वर्चस्ववादी चरित्र को ही दिखाता है।

पुरुषसत्ता के इस अतिक्रमणकारी वर्चस्ववादी चरित्र का प्रभाव स्त्री रचनाकारों के लेखन में भी देखा जा सकता है। स्वभावत: अतिक्रमणकारी पुरुषों की सत्ता को यह कतई पसंद नहीं होता कि स्त्रियाँ अपनी भाषा ईजाद करें। ये स्त्री रचनाकार अपनी भाषा में पितृसत्ता का विरोध नहीं कर सकती थीं। इन्हें अपनी बात रखने के लिए कृष्ण, राम या अन्य धार्मिक अवलम्बों का सहारा लेना होता था। ये पितृसत्ता से मुक्त नहीं थी। धर्मतंत्र और पितृसत्ता के गठजोड़ वाली इस समाजव्यवस्था में इन रचनाकारों ने एक विशेष प्रकार की मनोसामाजिकी का सहारा लिया जिसमें उन्होंने कई जगह पितृसत्ता के सामने समझौतावादी रुख अपनाया। वो अपनी बात एक अलग अंदाज में रखती थीं। कविता में वे खुद को अभिव्यक्त करती थीं।

प्रस्तुत लघु शोध-प्रबंध को अपनी तमाम सीमाओं के साथ मुख्यधारा के साहित्य में अब तक उपेक्षित की गयी स्त्री रचनाकारों के उत्तरमध्यकालीन रचनात्मक आयोजन की पड़ताल और विश्लेषण की दिशा में एक कदम के रूप में देखा जाना चाहिए। पितृसत्तात्मक औजार न सिर्फ रचनाकारों के कथ्य को प्रभावित करते हैं बल्कि मानसिक अनुकूलन किस ढंग से रूप या फ़ार्म को पुरुष अनुकृति बना डालता है, यह उत्तरमध्यकालीन कवयित्रियों के लेखन को देखकर समझा जा सकता है। शोध की निश्चित समय-सीमा के कारण यद्यपि बहुत से विश्लेषण योग्य बिन्दुओं का छूट जाना, शोधार्थी के रूप में मैंने महसूस किया है लेकिन साहित्येतिहास में अब तक उपेक्षित, सही विश्लेषण और पहचान की मांग करती ये कवयित्रियाँ इक्कीसवीं सदी में जानी और पहचानी जाएँ, उनका उल्लेख फुटकर खाते से हटकर मुख्यधारा के साहित्य में हो, उनके संवेदनात्मक और शैल्पिक वैशिष्ट्य को पहचान और सम्मान मिले, इस दिशा में यह लघु शोध प्रबंध अपने दाय को पूर्ण करने में सक्षम है।

संदर्भ ग्रंथ सूची

आधार ग्रंथ

- सिन्हा, सावित्री, मध्यकालीन हिन्दी कवयित्रियाँ (आत्माराम एण्ड सन्स, दिल्ली, 1953)
- सिंह, सुधा, चतुर्वेदी, जगदीश्वर, स्त्री-काव्यधारा (अनामिका पब्लिशर्स, दिल्ली, 2006)

सहायक ग्रंथ

- अनामिका, स्त्रीत्व का मानचित्र (सारांश प्रकाशन, हैदराबाद, 2001)
- अनामिका, स्त्री:साझा चूल्हा (एन.बी.टी. , दिल्ली, 2014)
- इंजीनियर, असगरअली, इस्लाम का जन्म और विकास (राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, 2008)
- उपाध्याय, भरतसिंह, थेरीगाथा (गौतम बुक सेन्टर, दिल्ली, 2010)
- कुमारी, पूनम, मध्यकालीन हिंदी काव्य का स्त्री पक्ष (अनामिका पब्लिशर्स, दिल्ली, 2015)
- खन्ना, मीनाक्षी, मध्यकालीन भारत का सांस्कृतिक इतिहास (ओरियंट ब्लैकस्वान, हैदराबाद, 2012)
- चतुर्वेदी, रामस्वरूप, हिन्दी साहित्य और संवेदना का विकास (लोकभारती प्रकाशन, दिल्ली, 2010)
- चतुर्वेदी, पशुराम, भक्ति साहित्य में मधुरोपासना (भारती भंडार, इलाहाबाद,1961)
- चौबे, शिवानी किंकर, भारत में उपनिवेशवाद स्वतंत्रता संग्राम और राष्ट्रवाद (ग्रंथ शिल्पी, दिल्ली, 2000)
- तलवार, वीर भारत, रस्साकशी (सारांश प्रकाशन, हैदराबाद, 2006)
- थारू,सुसी, ललिता, के. , वुमन राइटिंग इन इंडिया-1 (ऑक्सफ़ोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, दिल्ली,1991)
- द्विवेदी, हजारीप्रसाद, मध्यकालीन बोध का स्वरूप (राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, 2015)
- द्विवेदी, हजारीप्रसाद, कबीर (राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, 2013)
- धर्मवीर, थेरीगाथा की स्त्रियाँ और डॉ अम्बेडकर (वाणी प्रकाशन, दिल्ली, 2012)
- नवल, नंदकिशोर, रीतिकाव्य (राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, 2013)
- नगेन्द्र ,रीतिकाव्य की भूमिका (नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली, 2012)
- पणिक्कर,के.एन. , औपनिवेशिक भारत में सांस्कृतिक और विचारधारात्मक संघर्ष (ग्रंथ शिल्पी, दिल्ली, 2009)
- बोउवार, सिमोन, स्त्री-उपेक्षिता ,अनुवादक-प्रभा खेतान (हिंदी पॉकेट बुक्स, दिल्ली, 1998)
- बंधोपाध्याय, शेखर, पलासी से विभाजन तक और उसके बाद आधुनिक भारत का इतिहास (ओरियंट ब्लैकस्वान, हैदराबाद ,2015)

- बंशी, बलदेव, भारतीय नारी संत परंपरा (वाणी प्रकाशन, दिल्ली, 2011)
- मार्क्स, कार्ल, भारत का प्रथम स्वतंत्रता संग्राम अनुवाद रमेश सिन्हा (पीपुल्स पब्लिशिंग हाउस ,दिल्ली 2012)
- मुखिया, हरबंस, भारतीय मुगल (आकार बुक्स, दिल्ली, 2008)
- मोरलैंड, डब्ल्यू.एच. अकबर से औरंगजेब तक (ग्रंथ शिल्पी, दिल्ली, 2013)
- मोरलैंड, डब्ल्यू.एच. अकबर के मृत्यु के समय का भारत (ग्रंथ शिल्पी, दिल्ली, 2013)
- राजे, सुमन, हिंदी साहित्य का आधा इतिहास (भारतीय ज्ञानपीठ, दिल्ली, 2011)
- रत्नाकर, जगन्नाथदास, बिहारी रत्नाकर (प्रकाशन संस्थान, दिल्ली, 2012)
- शर्मा, रामविलास, परंपरा का मूल्यांकन (राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, 2011)
- शशिधर, रामाज्ञा, किसान आंदोलन की साहित्यिक जमीन (अंतिका प्रकाशन, गाजियाबाद, 2012)
- शुक्ल, रामचंद्र, हिंदी साहित्य का इतिहास (विश्वविधालय प्रकाशन, वाराणसी, 2013)
- सतीशचंद्र, मध्यकालीन भारत में इतिहास लेखन,धर्म और राज्य का स्वरूप (ग्रंथ शिल्पी, दिल्ली, 2013)
- संगारी, कुमकुम, मीराबाई और भक्ति की आध्यात्मिक अर्थनीति (वाणी प्रकाशन, दिल्ली, 2015)
- सांकृत्यायन, राहुल, मानव समाज (लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, 2012)
- सिंह, कुञ्ज बिहारी, युगप्रवर्तक महराजा छत्रशाल (वेलकम प्रेस, दिल्ली, 2001)
- सिंह, बच्चन, हिन्दी साहित्य का दूसरा इतिहास (राधाकृष्ण प्रकाशन, दिल्ली, 2013)
- सं. साधना, आर्य, मेनन,निवेदिता, लोकनीता, जिनी, नारीवादी राजनीति संघर्ष एवं मुद्दे (हिंदी माध्यम कार्यान्वय निदेशालय, दिल्ली, 2006)
- सं. अभिज्ञान,रंजीत, भारद्वाज, पूर्वा, जेंडर और शिक्षा रीडर भाग-1 (निरंतर, दिल्ली, 2010)
- सं. नीलकांत , इतिहास लेखन की समस्याएँ (विभा प्रकाशन,इलाहाबाद, 2015)
- सं. पालीवाल, कृष्णदत्त, अज्ञेय प्रतिनिधि निबंध (एन.बी.टी. , दिल्ली, 2011)
- सं. भारद्वाज, पूर्वा, कलामे निस्वां (निरंतर, दिल्ली, 2015)
- सं. लाल, उषा, सहजोबाई (साहित्य अकादमी, दिल्ली, 2012)
- सं. हबीब,इरफान, मध्यकालीन इतिहास,अंक-एक से आठ तक (राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, 2012)
- सं. हबीब,इरफान, मध्यकालीन इतिहास,अंक-नौ (राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, 2014)
- सं. हबीब,इरफान, मध्यकालीन इतिहास,अंक-दस और ग्यारह (राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, 2015)
- हबीब, इरफान, भारतीय इतिहास में मध्यकाल (राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, 2011)